CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुबेरनाथ राय

वाणी का क्षीरसागर

Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुबेरनाथ राय के निबन्धों के वैशिष्ट्य का एक महत्वपूर्ण आधार उनकी अद्‌भुत रचना-भंगिमा तथा भाषा-शैली है। उनमें अध्ययन-प्रसूत विचार-गाम्भीर्य और सहज स्फूर्त भाव उद्वेग का अद्‌भुत सामंजस्य है। कहीं-कहीं तो दोनों का ऐसा संश्लेष है कि विचारों की गहनता रम्य हो गयी है और भावों की रम्यता गहन।

श्री राय की भाषा अत्यन्त समृद्ध है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली, बोल-चाल की हिन्दी का शब्द-भण्डार, किरात-निषाद, यक्ष, गन्धर्व संस्कृतियों के साक्ष्य का निर्देशन करने वाले अनेक शब्द, अंग्रेजी भाषा के जाने कितने शब्द सबने मिलकर श्री राय की भाषा को समृद्ध कर दिया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी-निबन्ध साहित्य को महत्व और गरिमा प्रदान करने वाले रचनाकारों में श्री कुबेरनाथ राय अपने व्यापक अध्ययन, मिथकीय समीक्षा-सामर्थ्य, प्रकृति सम्बन्धी सोच, लोक-सम्पृक्ति, संस्कृति-निष्ठा एवं चिन्तन कवित्व-संश्लेषण-जनित विशिष्ट रचना भंगिमा के कारण प्रथम में अधिष्ठित हैं।

वाणी का क्षीर सागर महासागर में समाहित हो गया। कुबेरनाथजी की यह अन्तिम कृति है।

मूल्य : एक सौ बीस रुपये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाणी का क्षीरसागर

लेखक
कुबेरनाथ राय
संपादक
डॉ० रामचन्द्र तिवारी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

VANI KA KSHEER SAGAR

by

Dr. Kuber Nath Rai

1998

ISBN : 81-7124-205-7

प्रथम संस्करण : 1998 ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी–221 001

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी–221 001

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आभार

कुबेरनाथ राय जी के आकस्मिक निधन से उनकी अप्रकाशित रचनाएँ उनके परिवार के सहयोग से गाजीपुर के पत्रकार श्री हारुन रशीद खान ने एकत्र कर उपलब्ध कराईं। कुबेरनाथ राय जी के अनुज श्री नागानन्द वात्स्यायन ने कृपापूर्वक अनुमति प्रदान की। डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने कुबेरनाथ राय जी के बिखरे पन्नों को समेट कर उनके हस्तलेखों को क्रमबद्ध कर सम्पादन किया और भूमिका लिखी।

हम सभी के प्रति विनम्र आभार निवेदन करते हैं।

—प्रकाशक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुक्रम

भूमिका : डॉ० रामचन्द्र तिवारी v

1. वाणी का क्षीरसागर 1
2. धुरीमन बनाम परिधिमन 7
3. हिन्दी-असमिया काव्य में वैष्णव रस-साधना 13
4. असमिया लोक-साहित्य में श्रीकृष्ण 19
5. मानस, सुरधुनी के उस पार से 25
6. लोकचित्त, हिंसा और साहित्यकार 33
7. आधुनिक मनुष्य और प्राकृतिक परिवेश 38
8. साहित्य में सामाजिक चेतना और इतिहास-बोध 43
9. हमारी भारत-चेतना 55
10. सत्य और वास्तव : भारतीय आर्ष-दृष्टि 60
11. मानस-दृढ़ता और संघर्षशील चरित्र का सूत्र 65
12. लोकगीत एवं लोकनृत्य प्रदर्शन 85
13. लालित्य का मर्म 90
14. भारतीय इतिहास की अप्सरा-नाभि 108

स्मृतिशेष 114

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूमिका

श्री कुबेरनाथ राय हिन्दी के ललित निबन्धकार के रूप में प्रख्यात हैं। उनकी अभिव्यक्ति की मुख्य विधा निबन्ध ही है। उनकी दृष्टि में किसी भी जाति की मूल प्रकृति का निदर्शन उसके काव्य-साहित्य में होता है तथा उसकी बौद्धिक गरिमा एवं उदात्तता का परिचय उसके निबन्ध-साहित्य से मिलता है। उनके अनुसार— "निबन्ध ही किसी जाति के ब्रह्म-तेज को व्यक्त करता है। ललित निबन्ध भी गद्य में काव्यधर्मी होने के बावजूद इस दायित्व से छुट्टी नहीं पा सकता।" कहा जा सकता है कि श्री राय के निबन्धों में भारत की मूल प्रकृति अपनी बौद्धिक गरिमा एवं उदात्तता में निदर्शित है। काव्यधर्मी या ललित होने के कारण उनके निबन्ध भारत की मूल प्रकृति का निदर्शन करते हैं और निबन्ध होने के कारण उसकी बौद्धिक गरिमा एवं उदात्तता का।

श्री राय ने अपनी निबन्ध-यात्रा 'प्रिया नीलकण्ठी' (1968 ई०) के प्रकाशन से आरंभ की थी। यों लिखना तो उन्होंने छात्र-जीवन में ही आरंभ कर दिया था और उनके कुछ निबन्ध 'माधुरी' और 'विशाल भारत' में प्रकाशित भी हुए थे किन्तु इस दिशा में पूरे मन से वे 1962 ई० में श्रीनारायण चतुर्वेदी की प्रेरणा से प्रवृत्त हुए। उनका पहला ललित निबन्ध 'हेमन्त की संध्या' 'धर्मयुग' में 1964 ई० में प्रकाशित हुआ, वे उत्साहित हुए और आजीवन निबन्धों के माध्यम से अपनी भावनाओं और विचारों को व्यक्त करते रहे। 'प्रियानीलकण्ठी' और कुछ नहीं, निबन्धकार की विषपायी कल्पना ही है। निबन्धकार श्री राय की कल्पना ने दुःख और उल्लास दोनों के विष को अपने में समाहित करके पाठकों को शुद्ध प्राण और रस दिया है। 'प्रिया नीलकण्ठी' (1968 ई०), 'रसआखेटक' (1971 ई०), 'गंधमादन' (1972 ई०) और 'पर्णमुकुट' (1968 ई०), इन चार कृतियों को श्री राय अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक ही वर्ग में रखते हैं। इनमें उनका लालित्यबोध मुखर है। वे अनुभव करते हैं कि कल्पना-प्रवण होने पर भी ये निबन्ध चिन्तनरहित नहीं है। लालित्यबोध के साथ इनकी निश्चित वैचारिक पृष्ठभूमि है जिसमें भारतीय क्लासिकल परम्परा, शाक्त, वैष्णव धर्म-साधना और आधुनिकता बोध ये तीनों एक दूसरे के पूरक रूप में विद्यमान हैं। रचना के इस दौर में श्री राय शेक्सपीयर, लैम्ब, हैजलिट आदि अंग्रेजी और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे भारतीय लेखकों से प्रभावित थे। पाश्चात्य साहित्य के अध्येता होने के कारण श्री राय होमर, वर्जिल, दान्ते, शेक्सपीयर, गेटे आदि रचनाकारों के व्यक्तित्व, विचारधारा, और अभिव्यक्ति-भंगिमा से भलीभाँति अवगत थे। इसीलिए 'रसआखेटक' में उन्होंने होमर, वर्जिल और शेक्सपीयर के 'मोनोलाग' भी प्रस्तुत किए हैं। उनका उद्देश्य नवीन रस-भूमि की खोज के साथ पाठकों के मानसिक क्षितिज का विस्तार करना भी रहा है। 'प्रिया नीलकण्ठी', 'रसआखेटक' और 'गंधमादन' तीनों में श्री राय की निबन्ध-कला क्रमशः विकसित होती गई है। वे यह मानते हैं कि 'गंधमादन' तक आते-आते वे अपने 'आत्मिक मूलाधार' (Spiritual base) को पहचान गये थे और तब से वे अपने केन्द्र से विचलित नहीं हुए हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'निषाद बाँसुरी' (1963 ई०) को लेखक ने 'गंगातीरी लोक-संस्कृति की चित्रशाला' कहा है। इसमें गंगातटीय आर्य लोक-संस्कृति के निर्माण में निषादों के योगदान को रेखांकित किया गया है। लेखक के अनुसार ''भारतीय धरती के आदि मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं में मूल संज्ञायें, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीके और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन है।'' 'मन पवन की नौका' (1982 ई०) में लेखक ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपान्तर भारत या वृहत्तर भारत की संस्कृति के निर्माण में भी निषाद, मालव और नागवंशीय जातियों का योगदान है। 'किरात नदी में चन्द्रमधु' (1983 ई०) में 'भारतीय किरात संस्कृति' रेखांकित है। यह संस्कृति भोट मंगोलीय संस्कृति के रूप में भी पहचानी जाती है। यह पूर्वी भारत में आज भी विद्यमान है। 'उत्तरकुरु' (1993 ई०) में कुरु जाति के सांस्कृतिक इतिहास के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। कुरु जाति भ्रमणशील रही है। मूल उत्तरकुरु कहाँ था? स्पष्ट नहीं है। लेखक की धारणा है कि काश्यप समुद्र से दक्षिण तथा पार्श्व में आर्यों की बस्तियाँ थीं। ये आर्य वरुण और इन्द्र के उपासक थे। उत्तरकुरु की आदिम स्थिति यहीं कहीं होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों यह जाति नीचे की ओर खिसकती गई 'उत्तरकुरु' भी खिसकता रहा। ज़ब ये आर्य वर्तमान कश्मीर में आये तो यही 'उत्तरकुरु' हो गया। कश्मीर से चल कर हरियाणा (दक्षिणकुरु) में आकर कुरुगण बस गये। उन्होंने कृषि-कर्म आरंभ किया। यह प्रदेश कुरुक्षेत्र (दक्षिणकुरु) के रूप में प्रसिद्ध हुआ। श्री राय का निष्कर्ष है—''भारत का 'जम्बूद्वीप' नाम, यमुना नदी का नामकरण, चन्द्रवंशीय गौरव गाथा, महाभारत कथा और नरनारायणी धर्म, आधुनिक हिन्दी संस्कृति का आदि क्षेत्र कुरु-पाञ्चाल-भूमि आदि का गर्भनालगत सम्बन्ध है उस भूमि से जो ऋषीकों-तुषारों की भूमि रही है और जिसकी पौराणिक संज्ञा है उत्तरकुरु।'' कुरु जाति के दक्षिणकुरु में बसने के साथ पौराणिक मान्यता के अनुसार द्वापर का आरंभ हो जाता है। द्वापर में वैदिक यज्ञ संस्कृति और लोकधर्म से उपजी पूजा-प्रधान भागवत संस्कृति दोनों का समन्वय हो जाता है। यह द्वापर की संस्कृति आर्य-आर्येतर, निगम-आगम, यज्ञ-पूजा, होम-तीर्थ आदि की विमिश्र संस्कृति है। 'उत्तरकुरु' के निबन्ध इसी विमिश्र संस्कृति के साक्षी हैं। 'कामधेनु' (1990 ई०) में भारतीय संस्कृति की अस्मिता का उद्घाटन कुछ बिम्बों के सहारे किया गया है। ये बिम्ब हैं—'कामधेनु', 'देवी', 'नटराज', 'शेषशायी', 'श्री देवता' (वैदिक), 'सिरी देवता' (यक्ष) आदि। श्री राय के अनुसार शील, स्वभाव, नीतिबोध, सौन्दर्यबोध, तथा दैनिक जीवन हर दृष्टि से भारतीय आर्य संस्कृति का केन्द्रीय बिम्ब 'गौ' या 'धेनु' ही है। भारतीय आर्य संस्कृति के इन बिम्बों का सम्बन्ध, संस्कृति के अलग-अलग स्रोतों से है। 'देवी' और 'मायाबीज' का सम्बन्ध तांत्रिक और आगम संस्कृति से, 'कामधेनु' और 'श्री देवता' का निगम (वैदिक) से, 'सिरी देवता' का यक्षोपासना से, 'शंख' और 'चक्र' का सांख्य योग से, तथा 'नटराज' और 'शेषशायी' का आर्य-आर्येतर दोनों की संयुक्त साधना से है। इस प्रकार 'कामधेनु' के बिम्ब भारतीय संस्कृति के संश्लिष्ट स्वरूप को मूर्त करते हैं। 'महाकवि की तर्जनी' (1979 ई०) और 'त्रेता का वृहत्साम' (1986 ई०) दोनों का सम्बन्ध राम-कथा से है। इन संग्रहों में राम-काव्य के मर्म की व्याख्या की गई है। श्री राय के अनुसार राम-कथा में जिन गुणों का प्राधान्य है वे सौर प्रकृति वाले हैं। सौर प्रकृति तप, ज्ञान, प्रकाश, पुरुषार्थ, कर्मठता के माध्यम से मूर्त होती है। और 'शील' को उत्कर्ष प्रदान करती है। रामायण तत्त्वतः सूर्य-गाथा है। उपर्युक्त दोनों संग्रहों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में संगृहीत निबन्धों में मुख्यतः रामायण के तत्त्वार्थ का विवेचन और उद्घाटन किया गया है। राम-कथा के बाद श्री राय का मन गाँधी-चिन्तन में रमता रहा है। 'पत्र, मणि पुत्तुल के नाम' (1980 ई०) में पत्र-शैली में गाँधी-चिन्तन को दृष्टि में रखकर सर्वोदय के रसशास्त्र का निरूपण किया गया है। 'दृष्टि अभिसार' (1985 ई०) में मूलतः प्राकृतिक सौन्दर्य और लोकसंस्कृति का ही विवेचन किया गया है किन्तु इसमें एक लम्बा निबन्ध—'प्रजागर पर्व में साहित्यकार' शीर्षक भी है। महाभारत युद्ध की पूर्व रात्रि को प्रजागर रात्रि कहा गया है। श्री राय वर्तमान समय को उसी प्रकार का 'प्रजागर पर्व' मानते हैं। इस प्रजागर पर्व में साहित्य की दिशा और दशा पर लेखक ने विस्तार से विचार किया है। वस्तुतः आधुनिक साहित्य पर लेखक ने 'विषादयोग' (1964 ई०) लिखते समय ही विस्तृत और गंभीर विचार किया था। 'विषादयोग' के लगभग 100 पृष्ठों में आधुनिक साहित्य के वैचारिक आधार पर गंभीर अनुचिन्तन किया गया है। इसमें 'अस्तित्ववाद', 'कामूका विद्रोह-दर्शन', 'ज्याँ पाल सार्त्र और नव्य मार्क्सवाद', 'समाजवाद', 'श्रमिक संस्कृति', 'समाजवाद, अमलातंत्र और साहित्यकार', तथा 'नव्य वामचिन्तन और हर्बर्ट मारक्यूज' शीर्षकों से लेखक ने उन सारे वैचारिक स्रोतों की छानबीन की है जो आधुनिक यूरोपीय साहित्य के प्रेरक हैं। अपनी छान-बीन में श्री राय भारतीय आर्ष-चिन्तन के संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं। इसीलिए उन्हें वाममार्ग (मार्क्सवाद), अस्तित्ववाद और नव्य वाम-चिन्तन कोई भी तुष्ट नहीं कर सका है। संभवतः इसीलिए उन्होंने अपनी परवर्ती कृतियों में आधुनिक साहित्य पर बहुत कम विचार किया है। ऐसा लगता है कि इसके बाद भारतीय संस्कृति के आधार-तत्त्वों की खोज तथा प्राकृतिक सुषमा के सम्मोहन में बँधकर उनकी रचनाशीलता अतीतोन्मुखी हो गई। 'मराल' (1993 ई०) में श्री राय की समस्त रचनात्मक ऊर्जा, सरस, सरल, स्थिर और शान्त हो गई है। तेजस्विता है किन्तु उत्तेजना, क्षोभ और उग्रता नहीं। इसके कुछ निबन्धों में तो भारतीय संस्कृति के उदात्ततत्त्वों का अन्वेषण ही प्रधान है किन्तु कुछ में समसामयिक विषयों पर भी दृष्टि-निक्षेप किया गया है। स्वामी सहजानन्द, राहुल सांकृत्यायन, गाँधी की प्रासंगिकता, धर्म-निरपेक्षता, प्रकृति और विकृति आदि विषयों पर विचार करने के साथ 'आधुनिक संदर्भ में साहित्यकार की भूमिका' का भी विवेचन किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि शान्त, शीतल और मधुर हो जाने पर भी आधुनिक साहित्य के प्रति श्री राय का क्षोभ बना हुआ है। वह कहते हैं—"मुझे लगता है कि 1960 के बाद हिन्दी-साहित्य निरन्तर संस्कार-विहीन और दु:शील तथा दुर्मुख होता गया है। इसमें फैलाव तो है परन्तु यह अतिशय वाह्य प्रभाव पीड़ित और प्रभावरुग्ण है। यह भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टि से न केवल मूल-संलग्न (rooted) नहीं है बल्कि इसका कोई मूल ही नहीं है।" श्री राय आधुनिक साहित्य से ही नहीं आधुनिक समाज से भी निराश हैं। निराशा के क्षणों में उन्हें गाँधी याद आते हैं और वे अनुभव करते हैं कि गाँधी का सर्वोदय दर्शन ही सारी समस्याओं का अंतिम समाधान है। 'चिन्मय भारत' (1996 ई०) श्री राय की अब तक प्रकाशित कृतियों में अंतिम है। इसमें 'भारत की आत्मा' को पहचानने की कोशिश की गई है। वस्तुतः यह कोशिश बहुत पहले ही आरंभ हो गई थी। लेखक ने मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर को पहचानने की कोशिश अपने पूरे साहित्य में की है। यह पहचान प्रकारान्तर से भारत की ही पहचान है। 'चिन्मय भारत' में आकर यह पहचान पूरी हो गई है। श्री राय ने भारत की आत्मा को पहचानने के लिए आठ सूत्र दिए हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

1. सभी मूलों में परमतत्त्व की स्थिति, 2. चिन्तन की प्रत्येक शाखा में परम- तत्त्व की स्थापना, 3. ज्ञान को अनेकान्त मानना, 4. सद्-असद् के बीच रचनात्मक सामञ्जस्य, 5. ऋत को रचनात्मक सामञ्जस्य का आधार मानना, 6. काल की गति को वृत्ताकार मानना, 7. तार्किक ज्ञान के साथ प्रातिभ ज्ञान को भी महत्त्व देना और 8. मनुष्य को 'मनुष्य प्रकृति और ईश्वर' के त्रिक् के भीतर देखना। उपर्युक्त आठ सूत्रों के माध्यम से ही हम भारत की अस्मिता और प्रज्ञा को सही ढंग से पहचान सकते हैं। प्रस्तुत संग्रह 'वाणी का क्षीरसागर'-प्रकाशन-क्रम से श्री राय का सत्रहवाँ निबन्ध-संग्रह है। यह उनके दिवंगत होने के बाद प्रकाशित हो रहा है। इसमें संगृहीत निबन्धों का चयन उनके अब तक के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित-अप्रकाशित निबन्धों के ढेर में से किया गया है। यह चयन इस दृष्टि से किया गया है कि इसके माध्यम से श्री राय का रचनाशील व्यक्तित्व अपनी समग्रता में साकार हो जाय। श्री राय के पूरे लेखन का लक्ष्य भारत के मूल स्वरूप का संधान है। उन्होंने बार-बार अनेक माध्यमों से यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि भारतीय साहित्य पंचकोशात्मक यथार्थ को ऊर्ध्वगामी संस्कार देने के साथ ही चिन्मय-तत्त्व को व्यंजित और लब्ध भी कराता है। उनकी मान्यता है कि भारतीय साहित्य में निर्मल भावनाओं की विरजा नहीं बहती है। ये भावनायें व्यास और वाल्मीकि से चलकर कबीर, सूर और तुलसी तक प्रवाहित होती आई हैं। इन्हीं में हम भारतीय प्रज्ञा का श्रेष्ठ रूप देख सकते हैं। श्री राय की दृष्टि में भारतीय साहित्य अपने श्रेष्ठतम रूप में 'वाणी का क्षीरसागर' है। प्रस्तुत संग्रह में इसी क्षीरसागर की झलक दिखाई गई है।

श्री राय की उपर्युक्त सत्रहों रचनाओं के मंथन से उनकी जीवन एवं साहित्य-दृष्टि के निदर्शक निम्नलिखित आठ सूत्र लब्ध होते हैं।

1. भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रूप वह है जिसमें चिन्मय-तत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। वह सच्चे अर्थों में 'वाणी का क्षीरसागर' है।

2. साहित्य की भूमिका देश-काल की सीमा में आबद्ध इतिहास-बोध तक ही सीमित नहीं है, वह आगे बढ़कर शाश्वतकाल या महाकाल, जिसके भीतर जीवन के स्थायी मूल्य स्थित हैं, का साक्षात्कार कराकर समाप्त होती है।

3. आज की वाममार्गी, अस्तित्ववादी, समाजवादी और नव्य वाममार्गी ये सभी जीवन-दृष्टियाँ अपूर्ण और अधूरी हैं। ये मनुष्य को मुक्ति का मार्ग दिखाने में असमर्थ हैं।

4. शील की च्युति आज की सबसे बड़ी समस्या है। श्रेष्ठ साहित्य ही इस समस्या का समाधान दे सकता है।

5. प्रकृति और ईश्वर के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके ही मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। प्रकृति को भोग्या बनाकर और ईश्वर को नकार कर मनुष्य छोटा हो जायगा।

6. आधुनिक राजनीति और अर्थनीति की विसंगतियों को गाँधी के सर्वोदय-दर्शन के आधार पर सुलझाया जा सकता है।

7. भारतीय संस्कृति अपनी विकास-यात्रा में अनेक जातियों, धर्मों, विश्वासों और आचार-विचारों को आत्मसात् करती रही है। उसके स्वरूप-निर्माण में निषाद, किरात, यक्ष, किन्नर, गंधर्व आदि जातियों का योगदान कम नहीं है। उसकी प्रकृति संश्लेषणात्मक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

8. ललित निबन्ध रम्य होता है। 'रम्य' अर्थात् 'रमणीय' मधुर का ही पर्याय नहीं है। कोई भी अनुभव जो प्रगाढ़ और गंभीर हो, उदात्त हो, चित्त को 'स्व' की सीमा से मुक्त या कम से कम चमत्कृत कर सके 'रमणीय' कहे जाने का अधिकारी है। ललित निबन्ध गद्य में प्रस्तुत रम्य रचना है।

उपर्युक्त सूत्रों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि श्री राय की दृष्टि अनेक संदर्भों में सन्तुलित नहीं रह सकी है। यह ठीक है कि भारतीयता का मूल स्वर 'शाश्वत' की खोज और प्रतिष्ठा है किन्तु इस 'शाश्वत' को लक्षित और निदर्शित करने की प्रक्रिया में भारतीय मनीषा से कहीं कोई चूक हुई या नहीं? श्री राय ने इस पर ध्यान नहीं दिया है। कहना न होगा कि देश-काल-बद्ध इतिहास-बोध की उपेक्षा ने हमें वर्तमान के प्रति उदासीन बना दिया। हमारी महत्वाकांक्षा को सीमित कर दिया। ऐहिक जीवन के प्रति हमारी ललक एक निष्क्रिय उदासी में बदल गई। परिणाम यह हुआ कि हम हजारों वर्षों तक गुलामी का जीवन जीने के लिए अभिशप्त हो गये। पराजय के कारण और भी रहे होंगे किन्तु इसके लिए हमारी जीवन-दृष्टि भी कहीं न कहीं जिम्मेदार अवश्य है।

विचार का दूसरा बिन्दु भी महत्वपूर्ण है। भारतीय आर्ष-चिन्तन-परम्परा के अन्तर्गत आने वाली प्राय: सभी धर्म साधनाओं—वैदिक, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शाक्त—ने पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसका दार्शनिक आधार चाहे जितना पुष्ट हो, व्यवहार में इस मान्यता ने हमारे पुरुषार्थ को कुण्ठित करके हमें नियतिवादी बनाया है। श्री राय को इस सिद्धान्त से भी कोई शिकायत नहीं है। इसी संदर्भ में एक अन्य बात ध्यान देने योग्य है। भारतीय आर्षचिन्तन की छाया में संघटित हमारे सामाजिक ढाँचे में शूद्र, दलित और अछूत जातियाँ भी रही हैं। मनुष्य कितना भी गिरा क्यों न हो, उसे अस्पृश्य घोषित करना और सदियों तक इसी स्थिति में बनाये रखना हमारी सामाजिक संस्कृति की दुर्बलता ही मानी जायगी। श्री राय ने इस सांस्कृतिक-सामाजिक समस्या को भी नजरअंदाज कर दिया है। मध्यकालीन सांस्कृतिक संक्रमण का विश्लेषण करने में भी श्री राय ने विवेक का परिचय नहीं दिया है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में निषाद, किरात, यक्ष, नाग आदि जातियों के योगदान को मुक्त मन से स्वीकार करने वाले श्री राय इस्लाम की चुनौती का आकलन मात्र दार्शनिक चिन्तन के स्तर पर करते हैं और उसे अस्वीकार कर देते हैं। माना कि दार्शनिक चिन्तन के स्तर पर इस्लाम हमें कोई चुनौती नहीं दे सकता था लेकिन हमारे सामाजिक ढाँचे को उसने प्रभावित न किया हो, ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त संगीत, चित्र और वास्तुकला के क्षेत्रों में इस्लाम का योगदान तो सर्वमान्य है। काव्य के क्षेत्र में निर्गुण-धारा और सूफी प्रेमाख्यान-परम्परा दोनों इस्लाम के प्रभाव की साक्षी हैं। श्री राय 'कबीर' का नाम तो लेते हैं, उनकी वाणी को वाल्मीकि और व्यास की परम्परा से जोड़ते हैं किन्तु इस संदर्भ में 'जायसी' की चर्चा तक नहीं करते।

श्री राय आधुनिक जीवन-दृष्टि और साहित्य-सृष्टि के विवेचन में सर्वाधिक अनुदार दिखाई देते हैं। उन्होंने आधुनिक साहित्य—विशेषत: सन् '60 के बाद के साहित्य—को प्रभाव-रुग्ण कहकर उसके सकारात्मक पक्ष को भी अस्वीकार कर दिया है। उनकी दृष्टि में साठोत्तर हिन्दी-साहित्य वाममार्ग (मार्क्सवाद), नव्य वाममार्ग और अस्तित्ववाद प्रभावित होने के कारण छिन्न-मूल हो गया है। श्री राय अपने निर्णयों में कहीं-कहीं इतने एकपक्षीय हो गये हैं कि 'प्रेमचन्द' को भी वे पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सके हैं। उन्हें 'पंचपरमेश्वर', 'बड़े

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घर की बेटी', 'मुक्तिमार्ग' और 'नमक का दारोगा' के लेखक प्रेमचन्द स्वीकार्य हैं किन्तु 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन' और 'पूस की रात' के लेखक प्रेमचन्द मनुष्यता को छोटा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। 'आधुनिकता' के प्रति ऐसी दृष्टि जो प्रेमचन्द को भी पूर्णतः न स्वीकार सके, पुनर्विचार की माँग करती है।

श्री राय की 'लालित्य' की व्याख्या भी उनकी अपनी है। उनका 'लालित्य' 'रस' का पर्याय बन गया है। यह ठीक है कि रसानुभूति कराने वाला साहित्य ललित होता है। किन्तु निबन्धों के विवेचन में 'ललित' एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। आचार्य द्विवेदी के निबन्ध इसलिए 'ललित' कहे गये हैं कि उनमें सहजता है। लिखते समय प्रमाण के लिए कोई तथ्याधार उनके सामने नहीं होता। पाठक उनसे शीघ्र ही अन्तरंगता स्थापित कर लेता है। श्री राय के निबन्धों में ऐसा नहीं है। श्री राय का लालित्य नानात्व-प्रधान है। वे ललित निबन्ध को एक स्वतंत्र विधा मानते हैं जिसके माध्यम से कुछ भी प्रतिपादित किया जा सकता है। उनके बहुत से निबन्धों में, जिन्हें वे ललित मानते हैं, अनेक स्थलों पर पाद-टिप्पणियों की आवश्यकता हुई है। इन सबके बावजूद उनके निबन्धों में एक प्रकार का आकर्षण है जिसे विशेष अर्थ में 'रम्य' या 'ललित' भी कहा जा सकता है। यह लालित्यबोध कुछ ऐसा ही है जैसा किसी पर्वत-प्रदेश में भ्रमण करने वाले यायावर को उन्नत शृंगों, बिखरे शिला-खण्डों, उनके बीच से कल-कल छल-छल करते हुए निरन्तर प्रवाहित झरनों, विशाल गगनचुम्बी वृक्षों, तरह-तरह की वनस्पतियों, लता-गुल्मों, पशु-पक्षियों, पुष्प-गुच्छों आदि को एक साथ देखकर विस्मय, भय, हर्ष आदि की सम्मिलित अनुभूति में मग्न होने से होता है।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद श्री राय में ऐसा बहुत कुछ है जो उन्हें एक श्रेष्ठ निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। श्री राय एक विशिष्ट प्रकार के सांस्कृतिक चिन्तक हैं। उनके चिन्तन में साहित्य, इतिहास, दर्शन, धर्म, मिथक, मनोविज्ञान, नृशास्त्र, विज्ञान, लोक-गाथा तथा अनेक जातीय स्मृतियाँ एक साथ संश्लिष्ट रूप में विद्यमान हैं। पाठक उनके निबन्धों को पढ़कर एक साथ विस्मित, उत्कण्ठित, मुग्ध और प्रसन्न होता है। उसके ज्ञान-क्षितिज का विस्तार होता है। पाठक वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, चण्डीदास, रवीन्द्रनाथ, होमर, शेक्सपीयर, वर्ड्सवर्थ, थोरो, ह्विटमैन, इमर्सन, बायरन, टामस, डी० एच० लारेन्स, अल्बर्ट कामू, सार्त्र, मार्क्स, लेनिन, माओ, मारक्यूज, कीर्क गार्द, गाँधी, अरविन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, लोहिया, राधाकृष्णन्, रमेशचन्द्र मजूमदार, प्रबोधचन्द्र बागची, जवाहरलाल नेहरू, राहुल सांकृत्यायन आदि सैकड़ों साहित्यकारों, दार्शनिकों, इतिहास-मर्मज्ञों, भाषाविदों तथा संस्कृति-चिन्तकों की उक्तियों, सूक्तियों, कथनों और विचारों से अवगत होकर कुछ पाने और जानने का अनुभव करता है। इस दृष्टि से श्री राय के साथ आचार्य द्विवेदी का नाम लिया जा सकता है। दोनों में अन्तर यह है कि आचार्य द्विवेदी सहज मनुष्य का अनुसंधान करते हुए दिखाई देते हैं और श्री राय विस्मय भारत का।

श्री राय का प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण भी हमें प्रभावित करता है। श्री राय के निबन्धों में प्रकृति सर्वत्र मानवीय संवेदना से सम्पृक्त है। वह मानव-जीवन की सहभागिनी उसका सक्रिय जीवंत अंग है। उनके यहाँ हेमन्त की संध्या एक उदास करुण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सौन्दर्य लेकर आती है। गूलर आता है तो विषाक्त शरीर और रसहीन कीटपूर्ण फल लेकर। मृगशिरा आती है तो अपने ताप से धरती के विष को खींच कर फसल को रोग-मुक्त करने के लिए। रोहिणी बरसती है तो आम पकने लगते हैं। वृक्षों के नीचे जल में लाल-लाल आम टपकते हैं। सब लोग आम टोहते हैं। उसका अन्वेषण करते हैं। यह अन्वेषण स्वत: अमृतफल है। रोहिणी बरस कर हमारी अमृत-अन्वेषिणी-चेतना को जगा जाती है। वन में विचरण करता हुआ गैंडा वैराग्य, संयम, योग, संन्यास का संकेत देता है। उदास नीलकण्ठ किसी गहनतर दु:ख का चिन्तन करता हुआ प्रतीत होता है। पाकड़ का वृक्ष हमारी परमास्मृति का प्रतीक है जो हमें हताशा से मुक्त करके अमृत के अनुसंधान के निमित्त साहस का संचार करने वाली कथा सुनाता है। काजीराडा का महाकान्तार हमें अपनी विराटता से अभिभूत करके हमारी चेतना को विराट् के मर्म से परिचित कराता है। महाश्वेता चैत्र की चाँदनी अपने अन्तिम प्रहर में ज्ञान और वैराग्य की निर्मल शान्त धारा बन जाती है। तात्पर्य यह कि श्री राय के निबन्धों में प्रकृति जड़ सत्ता नहीं वह मानव-चेतना को प्रबुद्ध, तृप्त और जागृत करती है। उसकी ज्ञान-ज्योति को प्रदीप्त करती है और उसके चित्त को द्रवीभूत करके उसमें शील-निष्ठा का संचार करती है।

श्री राय की रचना-धर्मिता का तीसरा वैशिष्ट्य उनकी मिथकीय कथाओं और प्रतीकों की व्याख्या-शक्ति है। उन्होंने राम, सीता, अहल्या, शकुन्तला, उषा, उर्वशी, आदि से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं की विश्वसनीय व्याख्या की है। राम-कथा की व्याख्या श्री राय ने कुछ इस प्रकार की है—"यह सीता सूर्य और हिम की कथा है। इसकी काव्य-रूढ़ि है—अपहरण और उद्धार। सीता का एक अर्थ लांगल देखा (हराई) भी है। व्यंजना से इसका अर्थ धान्य लक्ष्मी लिया जा सकता है। हिम सीता या धान्य लक्ष्मी का अपहरण-कर्ता और सूर्य उद्धार-कर्ता है। इस प्रकार अपने मूल रूप में यह कथा सूर्य के अयन (एक अयन-बिन्दु से दूसरे अयन-बिन्दु तक जाना) की कथा है। यह अयन 'ऋत' के अधीन है। लोक में यह ऋत ही सत्य और धर्म बन जाता है। इससे शील की प्रतिष्ठा होती है। राम सूर्यवंशी हैं। वे सीता (भारत लक्ष्मी) का उद्धार करके शील की प्रतिष्ठा करते हैं। सूर्य की यह अयन-कथा कालान्तर में अनेक आर्य-अनार्य लोक-गाथाओं से मिलकर विकसित हुई है। आज भी शील-प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह काव्य अप्रतिम है। इसी प्रकार श्री राय ने अपने व्यापक अध्ययन एवं चिन्तन के बल पर अनेक मिथकीय-कथाओं की बुद्धि-संगत व्याख्या करके उनका सम्बन्ध हमारी जातीय चेतना (परमा-स्मृति) से जोड़ा है। इसी परमा-स्मृति के आधार पर वे लोक-कथाओं की व्याख्या भी करते हैं। 'पाकड़ बोली रात भर' निबंध में वे 'पाकड़' को 'परमा-स्मृति' का प्रतीक मानते हैं और उसके द्वारा कही हुई लम्बी कहानी का व्याख्यात्मक उपसंहार करते हुए कहते हैं— प्रत्येक लोक-कथा ही वह अमृत-गाथा है जिसमें माँ कहती है—"प्रिय पुत्र, वन को जा रहे हो तो जाओ। परंतु अमृत लेकर ही घर लौटना।" माँ का यह कथन सार्थक होता है। पुत्र सारी बाधाओं को पार कर अमृत रूपा षोडसी कन्या को लेकर लौटता है। श्री राय की व्याख्या है कि हमारी परमा-स्मृति ही (Racial Memory) हमें निराशा से मुक्त कर अमृत का संधान करने की प्रेरणा देती है। प्रत्येक लोक-कथा में राजकुमार (नायक) के विजयी होने का यही रहस्य है। कहना न होगा कि श्री राय के अनेक निबन्ध मिथकों, लोक-कथाओं और प्रतीकों की व्याख्या करते चलते हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और पाठक की जिज्ञासा की तुष्टि करते हैं। उसे एक नई अर्थ-भूमि पर ले जाते हैं और वह लोक-कथाओं एवं मिथकों में कुछ नया पाकर चमत्कृत होता है।

श्री राय के निबन्धों के वैशिष्ट्य का एक महत्वपूर्ण आधार उनकी अद्भुत रचना-भंगिमा तथा भाषा-शैली है। उनमें अध्ययन-प्रसूत विचार-गाम्भीर्य और सहज स्फूर्त भाव-उद्वेग का अद्भुत सामञ्जस्य है। कहीं-कहीं तो दोनों का ऐसा संश्लेष है कि विचारों की गहनता रम्य हो गई है और भावों की रम्यता गहन। ऐसे स्थलों पर उनका यह कथन बिल्कुल ठीक लगता है कि "अपने श्रेष्ठतम रूपों में काव्य और शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं, परस्पर सहयोगी हैं।" (दृष्टि अभिसार, भूमिका) उनके 'विषादयोग' निबन्ध-संग्रह में 'अनुचिन्तन' शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले निबन्धों तथा 'महाकवि की तर्जनी', 'त्रेता का वृहत्साम', 'उत्तरकुरु', संग्रहों के अनेक निबन्धों या निबन्धांशों में यह काव्य और शास्त्र संश्लेषण अद्भुत आकर्षण उत्पन्न करता है। कहीं-कहीं तो उनके द्वारा दी गई सूचनाएँ भी हमें विस्मय-रस की अनुभूति कराती हैं। जब हमें यह ज्ञात होता है कि 'शाल' (वृक्ष) से 'शालीन' (सभ्य) बना है, या 'भुट्टा' भूटान के जंगलों में उत्पन्न होता है और 'भोट' शब्द है या 'नारंगी' के तत्सम रूप नार्यंग (नारी+अंग) होता है या 'दारू' शब्द 'थारू' से बना है, या कुच (स्तन) का मूल अर्थ 'पहाड़ी' होता है और यह किरात भाषा से आया है या 'गंगा' शब्द मूलतः निषाद-भाषा का है तो हमें विचित्र अनुभव होता है और विस्मय-जनित आनंद की अनुभूति होती है। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं श्री राय का अनुचिन्तन अत्यन्त बोझिल और नीरस भी हो गया है। ऐसा वहाँ होता है जहाँ वे निषाद-किरात संस्कृतियों के प्रभाव को प्रमाणित करने के लिए शब्दों, रीति-रिवाजों और धार्मिक अनुष्ठानों का साक्ष्य प्रस्तुत करने लगते हैं। इसके विपरीत उनके निबन्धों में अनेक स्थलों पर काव्यात्मक और सरस शैली के उदाहरण भी मिलते हैं। 'प्रिया नीलकण्ठी', 'रसआखेटक', 'गंधमादन' और 'पर्णमुकुट' में कवित्वपूर्ण शैली का प्राधान्य है। क्रमशः श्री राय में चिन्तन की प्रवृत्ति बढ़ती गई है।

कहना न होगा कि श्री राय की भाषा अत्यन्त समृद्ध है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली, बोलचाल की हिन्दी का शब्द भाण्डार, किरात-निषाद, यक्ष, गंधर्व संस्कृतियों के साक्ष्य का निदर्शन करने वाले अनेक शब्द, अंग्रेजी भाषा के जाने कितने शब्द और उक्तियाँ, लोक-भाषाओं, विशेषतः भोजपुरी के अनेक ठेठ शब्द, हिन्दीतर भाषाओं के यथा-प्रसंग आने वाले अनेक शब्द सबने मिलकर श्री राय की भाषा को समृद्ध कर दिया है। उनकी भाषा उनके व्यापक अध्ययन एवं चिन्तन का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। निश्चय ही आचार्य द्विवेदी के बाद हिन्दी-निबन्ध-साहित्य को महत्व और गरिमा प्रदान करने वाले रचनाकारों में श्री कुबेरनाथ राय अपने व्यापक अध्ययन, मिथकीय समीक्षा सामर्थ्य, प्रकृति सम्बन्धी सोच, लोक-सम्पृक्ति, संस्कृति-निष्ठा एवं चिन्तन-कवित्व-संश्लेषण-जनित विशिष्ट रचना भंगिमा के कारण प्रथम पंक्ति में अधिष्ठित हैं।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाणी का क्षीरसागर

जैसे वैकुण्ठ धाम में पवित्र विरजा नदी बहती है, कैलाश के परिवेश में दिव्य मानस-सर है, समुद्र में आनन्दविह्वल क्षीरसागर है, वैसे ही भारतीय साहित्य में भी निर्मल प्रसन्न भावनाओं की विरजा नदी बहती है, विमल-उदात्त कथा का मानस-सर और आनन्दमयबोध का अगाध क्षीरसागर भी विद्यमान है। भारतीय साहित्य के ऐसे स्थलों पर वाणी का स्वरूप हंस-तीर्थ माना गया है, जबकि अन्य स्थलों की यानी लौकिक परिवेशों की भाषा को 'काक-तीर्थ-वाणी' कहा गया है। लौकिक परिवेशों में भी यह भारतीय वाणी नवरसमयी हो गयी है, उसमें भावों की सुन्दर रंगीन मछलियाँ भी हैं, जो पर्याप्त स्वादिष्ट भी हो सकती हैं, परन्तु इन सबके बावजूद वह हंस-भोग्य तीर्थ नहीं। उसे काकतीर्थ ही कहा जायेगा। एक तरह से देखा जाय तो सही किस्म की भारतीयता का प्रतिनिधि चेहरा उपस्थित करने वाला साहित्य वाणी का 'परमधाम' वैकुण्ठ क्षीरसागर रचता है। यों इस प्रतिनिधिरूप के बाहर भी भारतीय साहित्य का बहुत-कुछ है, जिसमें बुद्धितत्व और हृदयतत्व के पक्के घाट बँधे हुए हैं, जिसमें छप्पन भोगों की नदी बहती है और जिनके तट पर कामनाओं के धधकते यज्ञकुंड जलते हैं। परन्तु यह सब हमारी विशिष्टता का द्योतक नहीं, जो हमारी एक अलग पहचान रख सके। ऐसा सब तो हर जगह है, हर देश और हर भाषा में मौजूद है। वाणी का यह स्वरूप स्वादिष्ट और रसमय होते हुए भी मत्स्यगंधी है। अपनी सारी सुषमा और मायावी चितवन के बावजूद वह 'बकतीर्थ' या 'काकतीर्थ' ही रचता है, 'हंसतीर्थ' नहीं।

हमें इस 'हंसतीर्थ' वाणी का सर्वोच्च रूप संस्कृत में श्रीमद्भागवत में और हिन्दी में 'रामचरितमानस' में प्राप्त होता है। भागवत को तो परम्परा से 'सरस्वान्' यानी क्षीरसागर कहा ही जाता है। इसके तट पर जीव-हंस ही नहीं, जीवन्मुक्त परमहंसों का भी विहार है। भागवत के प्रथम श्लोक में ही भारतीय साहित्य की सर्वोच्च प्रतिज्ञा और निष्ठा 'सत्यं परं धीमहि' का उद्घोष है। भागवतकार प्रार्थना करता है मंगलाचरण श्लोक रूप में—

जन्माद्यस्ययतोन्वयादितरतश्चार्थष्वभिज्ञः स्वराट् ।
तेने ब्रह्महृदाय आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ॥
तेजो वारि मृदां यथा विनिमयों यत्र त्रिसर्गोअमृषा ।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

(हम उस 'परमसत्य', अर्थात् सत्ता या अस्तित्व के 'परम' रूप का ध्यान करते हैं जिससे विश्व की सृष्टि-स्थिति-तिरोधान घटित होते हैं, जो सारे कार्य-व्यापारों में एक ही 'सद्' रूप में स्थित होते हुए भी तेज, जल, क्षिति आदि पंच महाभूतों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विनिमयस्वरूप भिन्न-भिन्न नाम-रूप ग्रहण कर लेता है, जिसकी अन्तर्निहित स्थिति के कारण ही सारा सृष्टि-प्रवाह ही अमृषा अर्थात् 'सत्य' प्रतीत होता है, जो स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाशित, स्वतः ज्ञानवान और सर्वतंत्रस्वतंत्र सत्ता है, जो तीनों कालों में सारे कुहकों, सारे मायावी दृश्यों और आचरणों से परे स्थित है, जिसे महाबोधि सम्पन्न ऋषिगण भी नहीं जान पाते, जो ब्रह्मा (निमित्त कारण) को जन्म देकर उसके मन में सुप्त विद्याबीजों को जागृत करके उसे सृजनोन्मुख कर देता है। दूसरे शब्दों में, सारे दृश्यमान और अदृश्य माया-जगत् या 'कुहक' रूप 'वास्तव' का जो उत्स उपादान, निमित्त तथा निमित्त का प्रेरक है, उस परम सत्य अर्थात् चरम सत्ता यानी परमात्मा का ध्यान करके मैं इस काव्य का विस्तार करने जा रहा हूँ।)

इस श्लोक के प्रत्येक पदांश और प्रत्येक शब्द में भारतीय दर्शन और उपासना का सार कूट-कूट करके भरा गया है। परन्तु इसका आखिरी पद 'सत्यं परं धीमहि' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसका प्रथम शब्द 'जन्माद्यस्य' ब्रह्मसूत्र का द्वितीय सूत्र है, जिससे ब्रह्मसूत्र की विषयवस्तु का प्रारम्भ होता है क्योंकि प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' तो मात्र भूमिका है। साथ ही इसका अंतिम पद 'सत्यं परं धीमहि' गायत्री उपासना का चरम रूप प्रस्तुत करता है। 'तत्सवितुर.....' वाली गायत्री तो सगुण ब्रह्म की सविता शक्ति की गायत्री है। परन्तु यहाँ पर 'सत्यं परं....' द्वारा सगुण-निर्गुण संयुक्त परमात्मा का संकेत किया गया है। साथ ही यह पद भारतीय साहित्य की प्रथम और मूलभूत प्रतिज्ञा को उपस्थित करता है कि सही साहित्य 'सत्य' की आराधना है। सुनने में यह एक मामूली बात लगती है परन्तु यह आखिरी बात है। इससे अधिक सही और प्रामाणिक दावा और कुछ हो ही नहीं सकता कि साहित्य का लक्ष्य और उत्स दोनों सत्य ही है, विशेषतः सत्य का बहुरूपी माया-जगत् में स्थित 'ऋत्' रूप जिसका संकेत ऊपर के श्लोक में किया गया है, यों ऋत् और सत्य में कोई मौलिक प्रभेद नहीं। सत्य शाश्वत, परम् और शांत स्थितिशील रूप है तो 'ऋत्' उसी का 'भवति' प्रवाह के मध्य सक्रिय गतिशील रूप। माया की मोहक कुहकी छवियों की पृष्ठभूमि में स्थित 'परम सत्य' के कारण ही माया कुहक भी 'अमृषा' प्रतीत होता है। अतः सही और प्रामाणिक साहित्य केवल माया-कुहक ही नहीं, 'कुहक' के हृदय में सक्रिय 'परम सत्य' का संकेत देता है। आज की नयी शब्दावली में कहा जाय तो यह 'भवति'-प्रवाह (हो रहा है) के मध्य स्थित 'अस्ति' ('है') का संकेत देता है। इसी से भारतीय साहित्य की आखिरी और चरम प्रतिज्ञा यही है, 'सत्यं परं धीमहि'।

अतः साहित्य का उद्देश्य है सत्य का अनुसन्धान और भाषा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति। यह 'सत्य' वस्तुतः 'वास्तव' से कहीं अधिक मूलभूत और व्यापक तत्व है। परन्तु यह बात जरूर है कि कहीं भी सत्य 'वास्तव' से असंलग्न नहीं। 'वास्तव' सत्य का ही एक निचले स्तर का सीमित रूप है। यह जगत् चिद् और अचिद्, दोनों है। सारा अचिद् जगत् यानी 'वस्तु' जगत्, जो 'वास्तव' का क्षेत्र रचता है, मात्र एक वर्णमाला है उस चिद् जगत् को समझने की। भाषा की सीमा वस्तुजगत् की वर्णमाला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के आगे अभिधात्मक रूप में नहीं जा पाती और इस 'वास्तव' या 'अचिद्' से आगे की भूमि में वह लक्षणा-व्यंजना, बिम्ब और प्रतीक के माध्यम से ही प्रवेश कर पाती है। अतः 'वास्तव' का क्षेत्र सीमित है। वह भाषा के अभिधा जगत् का ही क्षेत्र है। इस अभिधा के क्षेत्र में भी भाषा मौज-मस्ती के लिए लक्षणा-व्यंजना का बाना ले सकती है। इसमें कोई हर्ज नहीं। परन्तु वास्तव में आगे 'परा वास्तव' में वह केवल लक्षणा-व्यंजना बन कर ही प्रविष्ट हो पाती है। सत्य, वास्तव और परा वास्तव दोनों में निहित है तथा दोनों को अपने में समेटे हुए है। केवल 'वास्तव' को ही सत्य की पहचान मानकर सन्तोष नहीं किया जा सकता। केवल जड़ को देखकर पूरे पेड़ की पहचान और प्रकृति का ज्ञान असंभव है। आधुनिक यथार्थवाद का यह दुराग्रह कि 'वास्तव' ही एकमात्र सत्य है, किसी भी तरह समीचीन नहीं माना जा सकता।

भारतीय मनीषा प्रारम्भ में ही सत्य के बारे में एक मौलिक प्रश्न उठाती है—सत्य का परम स्वरूप क्या है? उत्तर मिलता है—सत्य का परम स्वरूप है 'आत्मा'। अणुरूप में इसे 'आत्मा' कहते हैं और विभुरूप में 'परमात्मा'। पर है वह एक ही बात। परमात्मा की ही दूसरी संज्ञा है 'ब्रह्म'। साहित्य में आत्मा शब्द नहीं चलता है। वहाँ पर कुछ अधिक सगुणबोध के रूप में इस तथ्य को देखा गया है और दर्शन का आत्मा और परमात्मा साहित्य में 'पुरुष' और 'पुरुषोत्तम' रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसी से भारतीय दर्शन 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से प्रारम्भ होता है तो भारतीय काव्य 'अथातो पुरुष ज़िज्ञासा' से। यह 'अथातो पुरुष जिज्ञासा' ही रामायण के प्रथम सर्ग में 'कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्' बनकर उपस्थित है। अतः भारतीय साहित्य की मूल जिज्ञासा 'पुरुष' से जुड़ी है और मानुषतनु के भीतर पुरुष के सर्वोत्तम रूप का आविष्कार करना तथा भाषा में उसे उपस्थित करना ही उसका विशिष्ट उद्देश्य है। इसी से 'भारतीय साहित्य' श्रेष्ठतम अभिव्यक्तियाँ, चरितकाव्यों के रूप में ही हैं। वाल्मीकि की चिन्ता और 'नरोत्तम' पुरुष के प्रति उनकी जिज्ञासा भारतीय-साहित्य का प्रस्थान बिन्दु है और उस नरोत्तम पुरुष को 'रस' रूप में उपस्थित कर देना उसका चरम लक्ष्य है। यहाँ पर राम एक विशिष्ट अलौकिक 'महारस' बन जाते हैं जिसकी संज्ञा 'रामत्व' हो सकती है, और कुछ नहीं। सारे लौकिक रस (यथा, वीर, शृंगार, करुणा आदि) इसी रामत्व को रसात्मक उपलब्धि के लिए संचारीभाव बन जाते हैं और ये मिलजुल कर एक अनामा 'महारस' को उपलब्ध कराते हैं जो 'रामत्व' का 'अनुभाव' रचता है। वस्तुतः पुरुष को ज्ञानदृष्टि से दर्शन 'आत्मा' के रूप में पहचानता है तो साहित्य रसदृष्टि से उसे ही 'पुरुषोत्तम' रूप में। पुरुषोत्तम जब 'रस' रूप ग्रहण करता है तो उसका मानुषीकरण हो जाता है। बिना मानुषीकरण के नौ रसों के स्थायीभावों का परिपाक असम्भव है। अवश्य ही ये नौ रस भी पुरुषोत्तम रस के सन्दर्भ में ऐसे काम करने लगते हैं गोया ये संचारीभाव हों; उस अलौकिक दिव्य 'महारस' के जिसका प्रतीक वह 'पुरुषोत्तम' है। यह पुरुषोत्तम या नरोत्तम कोई लौकिक 'रस' नहीं, बल्कि उस नामहीन दिव्य 'महारस' का आलम्बन है। इसी से लौकिक रस के सारे स्थायीभाव अपनी भूमिका को बदल कर इस 'महारस'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के संचारीभाव बन जाते हैं और तब लौकिक रस के ये ऐन्द्रिकबोध आश्रित स्थायीभाव, यथा रति, उत्साह, करुणा आदि उस 'महारस' के सन्दर्भ में अपना अतीन्द्रिय रूपान्तर करके भोक्ता या पाठक को अनुभव के एक परमधाम, एक वैकुण्ठ शिखर की ओर ले जाते हैं जो 'महारस' की मधुमती भूमि है। इस भूमि में प्रवेश करके हमारी मनोमय सत्ता स्वयं एक दिव्य चतुर्भुज रूप ले लेती है। वैकुण्ठ में प्रवेश होते ही हमारा रूप विष्णु रूप हो जाता है।

भारतीय शिल्प और भारतीय कला की श्रेष्ठता का मापदण्ड यही है कि अमुक रचना किस सीमा तक हमें अनुभव के इस परमधाम के निकट पहुँचाती है। शुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से कालिदास के श्रेष्ठतर कवि होते हुए भी व्यास, वाल्मीकि को ही भारतीय प्रज्ञा प्रथम स्थान देती है, कालिदास को नहीं। क्योंकि व्यास, वाल्मीकि (या वैसे ही तुलसी, कबीर भी) लौकिक रसों की भावयात्रा तैं करा करके हमारे मन को आगे की ओर चालित कर देते हैं अनुभव के परमधाम की ओर, जबकि कालिदास या रवीन्द्रनाथ लौकिक रसों के सीमान्त पर ही खड़े हो जाते हैं। भारतीय प्रज्ञा का यह विवेक भारत के सारे चिन्तकों में वर्तमान है। यहाँ तक कि उर्दू के कवि फिराक गोरखपुरी में भी। उनसे श्री उमाकान्त मालवीय ने एक साक्षात्कार में पूछा था, 'तुलनात्मक दृष्टि से आप जैसे शायर में और हिन्दी के कवियों, तुलसी, सूर, कबीर आदि में क्या अन्तर है।' तो उन्होंने अपनी निजी भंगिमा में तुरन्त उत्तर दिया था, 'अमां, क्या बकवास करते हो। इन सब कवियों से, चाहे मैं होऊँ या रवीन्द्रनाथ, शेक्सपीयर हों, हम सब हजारों मील पीछे हैं।' कहने का तात्पर्य यह है कि यही भारतीय साहित्य की कसौटी है— (1) पुरुष के मध्य पुरुषोत्तम तत्व का अन्वेषण और उपलब्धि। (2) इस उपलब्धि का माध्यम 'ज्ञान' नहीं 'रस' है। (3) लौकिक रसों के सीमान्त के पार है महारस का सीमाहीन दिव्य परमधाम जिसकी ओर लौकिक रस हमें प्रेरित करने के लिए 'साधन' की यानी संचारी-भावों की भूमिका ले लेते हैं। (4) जो रचना उस महारस के पथ पर जितनी दूर तक हमें अग्रसर करती है (यानी जितना ही मोक्षानुभूति के या ब्रह्मास्वाद के निकट ले जाती है) वह रचना उसी सीमा तक श्रेष्ठ मानी जाती है। काव्य ही नहीं, सारी ललित कला और शिल्प की श्रेष्ठता की भारतीय कसौटी यही है। एक दफे की बात है, महात्मा गाँधी दक्षिण भारत की यात्रा पर थे। उन्हें बेलूड़ में हयशालवंशीय राजाओं की कीर्ति का अद्‌भुत नमूना विष्णु मन्दिर को देखने का अवसर मिला। मन्दिर की दीवाल पर खुदे हुए भित्तिशिल्प की सुन्दर सज्जा के मध्य उन्हें एक नारी-मूर्ति मिली, एक नग्न नारी, जो बड़ी आतुरता से अपने वस्त्रों को फेंक रही है और वस्त्र में एक वृश्चिक की आकृति स्पष्टतः बनी हुई है। महात्मा गाँधी इस शिल्प को देखकर अभिभूत हो गये। वे कुछ देर तक खड़े रहे। उनकी आँखों में पानी आ गया। अपने निजी सचिव को उन्होंने बाद में बताया था उक्त वस्त्र फेंकती हुई निरावरण नारी के मध्य उन्होंने विश्व में जीवात्मा की दयनीय स्थिति का करुण अनुभव प्राप्त किया। वस्त्र में छिपा हुआ वृश्चिक वस्तुतः 'काम' का प्रतीक है। वह निरंतर डंक मारता हुआ यंत्रणा देता है। वह नारी कामदंश की इस यंत्रणा से भयभीत होकर वस्त्र फेंक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रही है। इसके रहते हुए हम काम-मुक्त नहीं हो सकते। यहाँ पर पूरा का पूरा शिल्प ही हमें वैराग्य के पथ पर ठेल देता है। उसकी सारी मार्मिकता के मूल में है विरति का सन्देश। गाँधीजी इसी विरति का बोध कर उस दिन भावविह्वल हो गये थे। भारतीय दृष्टि से इसे हम उत्तम शिल्प कहेंगे क्योंकि यह हमें अनुभव के परमधाम की ओर ठेलता है। यह मोक्ष-मार्ग का शिल्प है। वैसे ही ध्यानी बुद्ध या नटराज की प्रतिमाएँ भी इस अनुभव के परमधाम से ही जुड़ी हैं। ईसाई रहस्यवाद, सूफी कविता और भारतीय सन्तों की 'बानियाँ' इसी मार्ग पर हमें ले जाती हैं। अतः उन्हें हम उत्तम साहित्य या श्रेष्ठ साहित्य की कोटि में रखते हैं।

हमने भारतीय साहित्य का सर्वोच्च शिखर 'रस' से ऊपर 'महारस' में प्रतिष्ठित किया है और उसे ही अनुभव का 'परमधाम' कहा है। तब प्रश्न उठता है कि हमारी इस परिकल्पना में 'शील' को कहाँ स्थान मिलता है। इस सन्दर्भ में पहली बात तो यह कहनी है कि लौकिक रस भले ही मन का धर्म या मानसिक अनुभव हो, लोकोत्तर रस अर्थात् 'महारस' मन का धर्म नहीं, आत्मा का धर्म है; और जो आत्मा का धर्म है वह किसी भी हालत में दु:शील हो नहीं सकता। दु:शीलता उसे आत्मा से विच्छिन्न कर देगी। दु:शीलता अनृत और असत्य है, जबकि आत्मा स्वभावतः ऋत् और सत्य है। अतः महारस के बोध में ही यह शील-तत्त्व अन्तर्भुक्त है। महारस ही क्यों, लौकिक रस भी शील से विच्छिन्न हो जाने पर सत्य अर्थात् 'परमसत्य' से शान्त और निर्मल सत्य से कट कर अलग हो जाता है। भले ही वह निम्नतर सत्य अर्थात् 'वास्तव' या यथार्थ से जुड़ा रहे। परन्तु उस अवस्था में वह भारतीय दृष्टि में प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता। दूसरी बात यह कि हम जब कहते हैं कि भारतीय साहित्य का चरम लक्ष्य है 'परम सत्य' का 'रस' रूप में आविष्कार और अभिव्यक्ति, तो इसका अर्थ यह नहीं कि चरम लक्ष्य पर ही सारी बात समाप्त हो जाती है। भारतीय साहित्य का इस चरम लक्ष्य के अतिरिक्त एक सामान्य लक्ष्य भी है। वह है—पंचकोषात्मक सत्ता के यथार्थ रूप का बोध और उसका पुरुषार्थ द्वारा ऊर्ध्वगामी संस्कार। भारतीय 'यथार्थवाद' पंचकोषात्मक है। वह आधुनिक 'यथार्थवाद' की तरह भौतिक (अन्नमय-प्राणमय) या मानसिक (मनोमय) स्तरों पर ही समाप्त नहीं हो जाता। वह सत्ता के प्रज्ञामय और आत्मिक (आनन्दमय) स्तरों को भी एक ही साथ समेटे चलता है। इसी से वह धरती का 'नाबदान' ही नहीं देखता, नाबदान से जुड़े गृह-उद्यान-खेत और उन सबको ढँके हुए आसमान तथा आसमान में प्रकाशित दिव्य विभूति की लीला, सब कुछ ही साथ-साथ देखता है। भारतीय जीवनबोध या यथार्थबोध इस समग्रता को एक साथ वरण करके चलता है। इसमें कुछ भी एकांगी नहीं। यह पंचकोषात्मक यथार्थ मात्र वस्तुधर्मी 'वास्तव' से (अर्थात् केवल अन्नमय-प्राणमय-स्तर से) कहीं व्यापक और वृहत्तर है। ऊर्ध्वगामी संस्कार देना भारतीय साहित्य-दृष्टि का सामान्य लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह चतु:पुरुषार्थ का उपदेश देता है और इन पुरुषार्थों के संदर्भ में ही 'शील' की बात प्रतिष्ठित हो जाती है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष ये ही चार पुरुषार्थ हैं। अपने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंचकोषात्मक यथार्थ को ऊर्ध्वगामी संस्कार देने के लिए ये ही चार स्वीकृत पथ हैं और प्रत्येक पथ पर शील ही मुख्य सम्बल है। शीलरिक्त अर्थ या काम कभी भी ऊर्ध्वगामी संस्कार नहीं दे सकते। शील से विहीन पुरुषार्थ हमें अधोगामी करेगा, ऊर्ध्वगामी नहीं। आज के 'अर्थ' और 'काम' के साथ यही ट्रेजडी घटित हो गयी है। शीलविहीन कर्मयोग मनुष्य को, उसकी पंचकोषात्मक सत्ता को, उसके समग्र यथार्थ को अधोगति की ओर ले जा रहा है। अतः भारतीय दृष्टि में शील से विच्छिन्न हो जाने का कोई विकल्प ही नहीं। शील, सत्य के परमरूप 'महारस' रूप के साथ और उसके सामान्य रूप पंचकोषात्मक 'यथार्थ' के साथ अविच्छिन्न भाव से जुड़ा है। यह बात कभी भी भूलनी नहीं चाहिए कि भारतीय दृष्टि में 'शील' और 'रस' सतीर्थ हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय साहित्य अपने श्रेष्ठतम रूप में वाणी का क्षीरसागर है, अनुभव का परमधाम है, बोध का कैलाश-शिखर है। इस क्षीरसागर में डुबकी लगा लेने पर मन पूर्णकाम और विष्णुरूप हो जाता है। स्थायीरूप में ऐसा होना तो अभ्यास और तप पर निर्भर है। प्रस्तु यह डुबकी मन को कुछ काल के लिए शान्त, अनातुर, अहिंसक और आनन्द-तरंगायित तो कर ही देती है। इस साहित्य की निरन्तर उपासना करने पर हमारा मन शील का चक्र और बोधि का शंख धारण करके विष्णुत्व की ओर अग्रसर होने लगता है। दृष्टि अनातुर और प्रसन्न हो जाती है, चित्त विस्तृत और गम्भीर होता जाता है और भाषा आशीर्वादमयी-मांगलिक हो जाती है। अद्‌भुत है यह वाणी का क्षीरसागर और अद्‌भुत है ये तीन महाकाव्य—रामायण, महाभारत और श्रीमद्‌भागवत। ये हमारी 'परमा-स्मृति' (racial memory) का हृदय रचते हैं।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धुरीमन बनाम परिधिमन

कुछ समय पूर्व भारतीय साहित्य पर प्रसिद्ध अंग्रेजी साप्ताहिक 'इलस्ट्रेटेड वीक्ली' ने एक सिम्पोसियम का संयोजन किया था जिसमें प्रत्येक भाषा के एक या दो प्रतिनिधि लेखकों ने आधुनिक भारतीय साहित्य की समस्याओं पर अपना मत व्यक्त किया था। ठीक उसी समय जब रवीन्द्र-शताब्दी की धूम मची हुई थी, यह चर्चा चली थी और उक्त साप्ताहिक के अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई थी। उड़िया के प्रसिद्ध कवि और आलोचक डॉ० मायाधर मानसिंह ने अपनी चर्चा के प्रारम्भ में ही एक अत्यन्त साहसपूर्ण बात कही थी—"आज भारतीय साहित्य नाम की कोई चीज नहीं है। बंगला साहित्य, उड़िया साहित्य, मराठी साहित्य या हिन्दी साहित्य, पर भारतीय साहित्य नहीं। स्वतन्त्रता-आंदोलन की सरगरमी के युग में भी टैगोर जैसा कवि अपनी क्षेत्र-भक्ति को नहीं भूल सका और बंगमाता की अभ्यर्थना में गान लिखा, तो आज की तो बात ही और है।" कथन अप्रिय लगे या प्रिय, पर इसमें विचार के सत्यांश हैं। भारतीय पुनर्जागरण के प्रथम चरण से जिसका सूत्रपात 'ब्रह्मसमाज' ने किया था दो प्रकार की समानान्तर विचार-शैलियों का विकास राष्ट्रीय स्तर पर होता है। और फलत: दो प्रकार के चिन्तन और दो प्रकार के स्वभाव विकसित होते हैं जिन्हें हम 'धुरीमन' और 'परिधिमन' कह सकते हैं। राजनारायण बसु ने वाल्मीकि के जन्मस्थान पर जाकर प्रार्थना की— "प्रभु बंगाली जाति में भी वाल्मीकि जैसी प्रतिभा भेजो।" द्विजेन्द्रलाल राय ने "बंग आमार जननि, आमार धातृ, आमार देश" लिखा। बंकिम ने 'वन्देमातरम्' में केवल सप्तकोटि बंगालियों की बंगमाता को ही गरिमा से अभिषिक्त किया। जब इस गीत का अखिल भारतीय उपयोग होने लगा तो 'सप्त' को बदल कर 'त्रिंशकोटि-कण्ठ-निनाद-कराले' कर दिया गया। परन्तु आज भी बंगला के प्राइमरी स्कूलों की टेक्स्ट 'किशलय' में यह 'सप्तकोटि-कण्ठ-निनाद-कराले' ही है। सर्वश्री हरप्रसाद शास्त्री, दिनेशचन्द्र सेन, काजी अब्दुल बदूद, रमेशचन्द्र मजूमदार प्रभृति विद्वानों ने अखिल भारतीय गौरव के चिह्नों पर बंगाली मुहर लगाने की चेष्टा प्रारम्भ की तथा 'चिन्मयबंग', 'सोनार बंगला', 'शाश्वतबंग' आदि शब्दों का नशा पिलाना शुरू किया और सबसे बढ़कर रवीन्द्रनाथ जैसे सार्वभौम दृष्टि वाले व्यक्ति ने भारत को 'महामानव सागर तट' मानते हुए भी बंगाल की मिट्टी और जल की महिमा का इतना अधिक गान किया और प्रार्थना की— "हे प्रभु तुम बंगाली जाति को विश्व के कोने-कोने में बिखेर दो।" कहाँ 'विश्वमानव' (यूनिवर्सलमैन) के स्वागत की घोषणा और कहाँ मात्र एक क्षेत्रीय विचार। इन सबके सम्मिलित प्रभाव में एक ऐसे प्रकार का राष्ट्रीय मन विकसित होने लगा जो सम्पूर्ण देश की राष्ट्रीयता से मेल नहीं खाता है। इस क्षेत्रीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राष्ट्रीयता को तिलक और गाँधी सोच भी नहीं सकते थे। रवीन्द्रनाथ और बंकिमचन्द्र ने भी इसे क्षेत्रीय संकीर्णता के रूप में प्रस्तुत नहीं किया था। जिस राजनारायण बसु ने 'बंगाली जाति' के लिए 'वाल्मीकि' पाने की प्रार्थना प्रभु से की थी उन्होंने ही जीवन के अन्तिम काल में 'एकटी बृद्ध हिन्दूर आशा' नामक ट्रैक्ट लिखकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखने का स्वप्न देखा था। ये मनीषीगण 'अखिल भारतीय राष्ट्रीयता' और 'क्षेत्रीय राष्ट्रीयता' दोनों को समानान्तर ले चलने की चेष्टा कर रहे थे। पर इनकी मृत्यु के बाद यह सन्तुलन कमजोर होता गया, ये भी बंगाल का अभ्युदय चाहते थे किन्तु वे बंगाल के अभ्युदय में समस्त भारत का अभ्युदय देखते थे। परन्तु औसत दर्जे के बंगाली के मन में बंगाली राष्ट्रीयता और भारतीय राष्ट्रीयता का समन्वय न हो सका और एक लड़ाकू क्षेत्रभक्ति (पैरोकिअलिज्म) को इससे अधिक बढ़ावा मिला तथा समन्वित राष्ट्रीयता को कम। आज इस लड़ाकू क्षेत्रभक्ति का काला मुख छिपाने के लिए कभी-कभी 'सार्वभौमवाद' का मुखौटा पहनकर भारतीय राष्ट्रीयता को हीन मनोवृत्ति बताया जाता है तो कभी 'अनेकता में एकता' का आदर्श बघारा जाता है।

यहाँ पर हमने बंगाल का उदाहरण दिया है जिसके द्वारा पूर्वी अंचल को मानसिक संचार मिलते हैं, कहीं प्रत्यक्ष शिष्यत्व द्वारा तो कहीं (जैसे असम और उड़ीसा में) प्रतिक्रिया द्वारा। ठीक इसी प्रकार की प्रवृत्ति का विकास तमिल और कर्नाटक में हुआ। तमिल माता की वंदना में सुब्रह्मण्यम भारती के द्वारा लिखे गये गीत और तमिल के स्वतंत्र सांस्कृतिक अस्तित्व की चर्चा करने वाली काव्य-परम्परा, जो हजारों वर्ष पुरानी है, इस स्थल पर विशेष द्रष्टव्य है। तमिल के पक्ष में तो एक बात कही भी जा सकती है कि तमिल का सांस्कृतिक अस्तित्व अति प्राचीन परम्परा पर आधारित तथा ऐतिहासिक तथ्य है किन्तु बंगाल का यह स्वतन्त्र सांस्कृतिक अस्तित्व महज एक सौ वर्ष पुराना है और बंगाली विद्वानों द्वारा ईजाद किया गया है, 'ए डिसकवरी आफ बंगाल आउट आफ ओल्ड इण्डिया।' महाराष्ट्र में भी 'अमुचा एक महाराष्ट्र देश हा' की प्रवृत्ति चली। पंजाब के अकाली आन्दोलन का नारा 'धोती-चोटी जमुना पार' भी इसी लड़ी की कड़ी का इतिहास कहता है। भारत में पाँच सौ बोलियाँ हैं। कम-अधिक परिमाण में सर्वत्र देश में इस क्षेत्रीयता के भूत ने अपना असर दिखाया है। भारत के अति पुरातन मानस में विद्यमान 'विविधता में एकता' के दर्शन होते आये हैं। किसी ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए जिस प्रकार प्रत्येक सीढ़ी अपना महत्त्व रखती है और उसकी सुदृढ़ता तथा उसका स्वतंत्र अस्तित्व आवश्यक है, उसी प्रकार क्षेत्रीय भाषा, भाव, विचार, रीति-रिवाज अपना महत्त्व रखते हैं। इस शुद्ध किन्तु व्यापक हित का दृष्टिकोण रखकर जहाँ इन क्षेत्रीय भावनाओं का नियमन हो सका वहाँ उतने ही परिमाण में यह क्षेत्रीयता का कुप्रभाव असफल रहा। परन्तु इस अभागे देश में पहले ही से अनेकता नंगा नाच कर रही है। वर्तमान संदर्भ में इस नारे का सिर्फ राजनीतिक अर्थ रह गया है।

इस प्रकार चाहे जो हो, किन्तु यहाँ इस लेख में जिसका विचार किया जा रहा है उसके अन्तर्गत यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दक्षिण और पूर्व में विशेषतः राष्ट्रीयता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की दो समानान्तर प्रवृत्तियाँ चलीं—क्षेत्रीय और अखिल भारतीय। स्वतंत्रता-आन्दोलन के समय दोनों मिल-जुल कर काम कर रही थीं, इसलिए इनके अन्तर्विरोध को हम पहिचान नहीं पाए। यह भारतीय राष्ट्रीयता के मिश्रित विभक्तमन की स्थिति है। इसे हम 'परिधिमन' कह सकते हैं। इसके विपरीत मध्यदेश और बहुत कुछ पश्चिमी प्रान्तों में जिस राष्ट्रीयता का विकास हुआ वह विभक्तमन वाली नहीं थी। वह एकमात्र भारतीय राष्ट्रीयता थी। (यहाँ पर हम क्षेत्रीय राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में यह बात कह रहे हैं। अन्यथा धर्म की दृष्टि से दो राष्ट्रों का सिद्धान्त तो उत्तरप्रदेश और बंगाल दोनों में समान रूप से प्रचलित था। वह तो ऐसा 'गैग्रीन' था जिसकी शल्य चिकित्सा हो चुकी है और जिस शल्य चिकित्सा का परिणाम पाकिस्तान के रूप में एक समूचा अंग काट देने के बाद भी रोग का समूल नाश हो चुका है ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर इस सन्दर्भ में उसकी चर्चा करना व्यर्थ है।)

मध्यदेश और गुजरात-महाराष्ट्र में विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से 'अखिल भारतीय राष्ट्रीयता' ही पनपी और विकसित हुई तथा ऐसे मन का विकास हुआ जिसके सोचने की शैली अखिल भारतीय थी और कट्टर ढंग से भारतीयता की वकालत करती थी। इन क्षेत्रों में भी क्षेत्रीयता के अंकुर उगे किन्तु उन्हें पोषण नहीं मिला। चाहे कवि, लेखक और पत्रकार हों या जननायक, पर क्षेत्रीयता के प्रति उनका आकर्षण अत्यल्प रहा है। इस बात का सबूत हिन्दी-साहित्य, मराठी-साहित्य और गुजराती-साहित्य है। यदि साहित्य लोकमन का दर्पण है तो बंगला-साहित्य से इनकी तुलना करने पर ऊपर की बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। मध्यदेश और पश्चिमी भारत में जिस प्रकार के स्वभाव और राष्ट्रीय मन का विकास हुआ उसे हम 'धुरीमन' कह सकते हैं। आज इस धुरीमन की कट्टर भारतीय राष्ट्रीयता को परिधिमन के दोनों चेहरों से, क्षेत्रीयता और सार्वभौमिकता (जिनमें एक असली है और दूसरा नकली), कड़ा संघर्ष लेना पड़ रहा है। यह संघर्ष उत्तरोत्तर विकट होता जायेगा, ऐसी आशंका भी हो रही है।

स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो यह एक प्रकार की ऐसी अहम्मन्यता की मनोवृत्ति है, जिसमें दूसरों को कम दर्जे का आँका जाता है। अब तो इस मनोवृत्ति से पीड़ित अनेक भारतीय बुद्धिजीवियों ने जिनमें अन्नदाशंकर राय जैसे कवि और तुषार कान्ति घोष जैसे पत्रकार हैं, यह महसूस करना शुरू कर दिया है कि भारत 'राष्ट्र' न होकर 'जाति-समूह' या 'राष्ट्र-समूह' है। दूसरे शब्दों में भारत 'राष्ट्र' तब है जब अधिकारों का प्रश्न आता है, जब समूचे देश में नौकरी करने या शरणार्थी भेजने का प्रश्न आता है। पर भारतीय राष्ट्रीयता के नाम पर एक इंच भी क्षेत्रीयता को झुकने देने के लिए हम तैयार नहीं। 'राष्ट्रीय एकता कायम हो पर हमारी शर्तों के अनुसार' यही है उस परिधिमन का नारा। इसके लिए परिधिमन जी-तोड़ कोशिश कर रहा है। दाँव पर दाँव लगा रहा है और यह द्यूतक्रीड़ा इतनी जघन्य होती जा रही है कि एक दूसरे पर विश्वास मर चुका-सा लगता है। इस विश्वास को पुनः लाने के लिए और क्षेत्रीयता के भूत को समाप्त करने के लिए यत्न हो रहे हैं। यह सत्य है कि शुद्ध राष्ट्रवाद के सच्चे संस्कार के अभाव में ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ये विकृत विचार पनपे हैं और यह भी सत्य है कि जिस एक सूत्र ताने-बाने से राष्ट्र-शरीर की रचना हुई है और जिस अविच्छेद्य सम्बन्ध की धारा में अलगाव, झूठी अहम्मन्यता और असहिष्णुता को डुबाकर आसेतु हिमाचल सफल, श्रेष्ठ, उदात्त मानवजीवन के मूल्यों की प्रतिष्ठापना के तेजस्वी आदर्श से एकरस तेजस्वी प्रेरणा प्राप्त होती है उसे हिन्दू जीवन दर्शन कह सकते हैं, क्योंकि 'हिन्दू' शब्द अपने व्यापक अर्थ में केवल 'सनातन धर्म'-सम्प्रदाय का द्योतक न होकर उस संस्कारधारा का द्योतक है जो वैदिक युग से गाँधीजी तक चलती है और बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर, खुसरो-जायसी भी उसी के पवित्र अंग हैं। किन्तु इन हिन्दुओं की भी अजीब हालत है। इन पंक्तियों के लेखक से असम प्रदेश में भ्रमण कर रहे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कुछ सदस्य मिले। मेरे जैसे व्यक्ति ने भी उनसे यही सवाल किया कि वे अपने प्रान्तों में जाकर (उनमें से एक महाराष्ट्रीय और दूसरे बंगाली थे) क्यों नहीं शुद्ध हिन्दुत्व का पाठ पढ़ाते। मैंने उनसे पूछा कि क्या यह तथ्य नहीं कि संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के समय महाराष्ट्र-समिति के तत्वावधान में गुजराती भाई-बहनों पर अत्याचार किया गया? क्या यह तथ्य नहीं कि इतना होने पर भी बंगाली नवयुवक पूर्वी पाकिस्तान को अधिक निकट का बन्धु मानता है बनिस्बत उत्तर प्रदेशीय या बिहारी के? मैंने सबूत में एक साप्ताहिक पत्र 'कम्पास' की कटिंग पेश की। (देखिये 'कम्पास' के सन् 65 के जनवरी-फरवरी के अंक) यह चिन्तन इतना विकृत हो चुका है कि 'वसुमती' के एक 'पूजा अंक' में 'बंगदर्शन' स्तम्भ के अन्दर कहा गया है कि 'जो बंगभंग अंग्रेज नहीं कर सके वही बंगभंग पूर्वी बंगाल के बंगालियों को भारत के विविध भागों में (दण्डकारण्य आदि) बसाकर हो रहा है। क्योंकि और लोग नहीं चाहते कि सारे बंगाली एक स्थान पर रहें।' क्या बंगाली विस्थापित बन्धुओं को बसाने के पीछे यही भावना है—आन्ध्र, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश तथा बिहार के लोगों की? 'देवतात्मा हिमालय' में एक स्थल पर प्रबोध सान्याल स्व० डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हैं तो दो पृष्ठ बाद उच्च स्वर से घोषणा करते हैं कि 'लाख विभाजन के बावजूद पश्चिमी बंगाल के हिन्दू और पूर्वी बंगाल के मुसलमानों का हृदय एक है। दोनों के अन्दर रक्त का सम्बन्ध होने से आत्मगत ऐक्य है।' पर तथ्य तो यह है कि 'वर्ण-व्यवस्था के कारण एक रक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। संस्कारों की दृष्टि से एक का आधार है 'मनुस्मृति' और दूसरे का 'कुरान'। हाँ मछली दोनों खाते हैं। जिह्वा-पेट का ऐक्य है।'

मेरा तो विश्वास है कि शुद्ध ऐतिहासिक सत्यों को ठुकराकर या सुविधावश विकृत करके एक मिली-जुली संस्कृति और समान स्वार्थों के आधार पर बना 'बेमेल राष्ट्रवाद' स्वीकार करने से ही एकता की केन्द्र-शक्ति क्षीण हो गई और विभक्त मन की क्षेत्रीयता को जन्म मिला। आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे समाजवादी भी इस 'मिली-जुली संस्कृति' के पक्ष में न होकर 'समन्वित संस्कृति' के पक्ष में थे। 'मिला-जुला' किसी भी क्षण अलग हो सकता है, पर 'समन्वित' अवयव अलग नहीं हो सकते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी शुद्ध राष्ट्रवाद के अभाव में ही हमारी विभिन्नताओं की समृद्धशाली 'व्यवस्थाओं' को 'भेद' कहा जाने लगा। शब्द-प्रयोग भी तदनुसार बदले। 'जाति विविधता' 'जातिभेद' के नाम से पुकारी जाने लगी। उसी प्रकार भाषाविविधता, भाषाभेद, क्षेत्रीय खानपान की रुचि-व्यवस्था, रुचिवैषम्य आदि कहलाने लगे। ये 'विभेद' हिन्दी-प्रदेशों में भी बढ़ रहे हैं। मैंने देखा है कि भोजपुरी-आंदोलन किस प्रकार विभेद की ओर सिर उठा रहा है। 10 वर्षों के अन्दर-अन्दर यह राजनीतिक स्वार्थों के टक्कर का आन्दोलन बन जायेगा। शुद्ध राष्ट्रवाद के अभाव में स्वार्थों का पनपना स्वाभाविक ही है, सो नेतागण अपने स्वार्थ-साधन के लिए सब प्रकार की 'व्यवस्थाओं' को 'विभेद' किए जा रहे हैं। छत्तीसगढ़ी और राजस्थानी का भी यही हाल है। मिथिला वालों का कुछ पूछना ही नहीं। वे इस दौड़ में पहले ही से अगली कतार में हैं। आश्चर्य क्या जो इन सारे आन्दोलनों को प्रोत्साहन भी समय-समय पर परिधिमन के केन्द्रों से मिल जाता है। हाल ही में श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने आशा व्यक्त की है कि शीघ्र ही भोजपुरी और छत्तीसगढ़ी अपना न्यायोचित अधिकार प्राप्त करेंगी। इस प्रकार अपनी ही समृद्धि और बहुमुखी बहुरुचि और बहुविकास की प्रेरक विविधताओं को विभेद के रूप में पाकर एकता हतप्रभ सी हो रही है। राष्ट्रीयता का धुरीमन असहाय रूप में अपने आपको घिरा हुआ पाता है। पाकिस्तान के आक्रमण के कारण उत्पन्न स्थिति में भले ही आवेशगत एकता आ गयी हो पर आवेश निकल जाने पर यही 'परिधिमन' अधिक सक्रिय रहता है।

खेद है और मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं कहूँ कि आज गाँधी और तिलक का जीवन-दर्शन मर्माहत होकर अन्तिम साँसें ले रहा है। मैं जानता हूँ कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह अति अप्रिय है। पर यह सत्य है। यह तथ्य है कि धुरीमन आज अति आहत है। राष्ट्रीयता का पवित्र हृदय हमारे और आपके कुकृत्यों के घावों से भर गया है। क्षेत्रीयता रावण की तरह अट्टहास करती है और धुरीगत राष्ट्रीयता अपमान, लांछन, को बरदाश्त करती-करती इतनी दुर्बल हो गयी है कि वह जबान नहीं खोल पाती। यह बड़ी ही असहाय अवस्था है। इस धुरीगत राष्ट्रीयता के प्रत्येक आकारों को 'साम्प्रदायिक' या 'मतवादी' कहकर बदनाम करने की रात-दिन चेष्टा चल रही है। अंग्रेजी त्रैमासिक 'क्वेस्ट' (46वाँ अंक) में अन्नदाशंकर राय ने नयी खोज प्रस्तुत की है कि हिन्दी साम्प्रदायिक भाषा है। 'हिन्दी का भाषा-संदर्भ में वही स्थान है जो राजनीतिक संदर्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का।' अतः ऐसी भाषा राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। परिधिमन की कुरूप-भद्दी क्षेत्रीय राष्ट्रीयता 'सांस्कृतिक स्वातंत्र्य' का कवच पहनकर और 'सार्वभौमवाद' का मुखौटा लगाकर सारे मूल्यों को समाप्त करने जा रही है। आज यदि बंगाल, तमिलनाडु इस कृत्या के मोहपाश में ग्रस्त हैं तो कल उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात की बारी है। क्योंकि मनुष्य के भीतर का देवता अक्सर मौन रहता है और पशु अक्सर वाचाल। और इसलिए तमिलनाडु एवं उत्तरप्रदेश के अन्तराल में बैठे क्रोध, ईर्ष्या और दम्भ के भैंसे स्वभावतः सक्रिय हो जावेंगे उस समय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारा सर्वनाश होगा। यह अन्तराल का दंभ और क्रोध का महिषासुर ही राजाजी से कहलाता है कि दक्षिण सदैव गुरु रहा, वह सदा से हमारे खड़ाऊँ ढोने वाले उत्तर के शिष्यों की भाषा क्यों ग्रहण करेगा? उत्तरप्रदेश ने विदेशी शासन के जबड़े में रहकर भी अपनी संस्कृति की रक्षा की, इसी दुत्कार को सुनने के लिए। राजाजी सीमा प्रान्त और सिन्ध के लोगों को तो यह नहीं कह सकते। सबसे आश्चर्य होता है श्री दक्षिणारंजन बसु का यह तर्क सुनकर कि 'भारत की राष्ट्रभाषा वह भाषा कैसे होगी जिसके किसी भी प्रदेश (उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान) का उल्लेख राष्ट्रगान में नहीं।' गोया हिन्दी-प्रदेशों को द्वितीय श्रेणी की नागरिकता इसी से प्राप्त हो गयी कि उनका नाम 'जन गण मन.........' में नहीं। हिन्दी-प्रदेश ने तो इसकी चिन्ता भी नहीं की थी कभी जो बाहर-बाहर अपने को हिन्दुस्तानी कहते हैं-कहवाते हैं। 'गंगायमुना', 'विंध्य-हिमालय' के उल्लेख पर ही संतोष कर लिया। पर यह उदारता और गुणग्राहकता ही मानो अपमान का कारण बनी है। धन्य है दम्भ का परिधिमनवासी महिषासुर। अब तो क्षमा-शिवा-धात्री रूपिणी माँ महिषमर्दिनी की ही आशा है। वही हम चालीस कोटि के अन्दर अभय और स्नेह जगावे। अधिक क्या लिखें?

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिन्दी-असमिया काव्य में वैष्णव रस-साधना

वैष्णवों का अपना अलग से रस-सिद्धान्त है। वे भरतमुनि द्वारा उद्घोषित और बाद में विकसित रस-सिद्धान्त को लौकिक मानते हैं। शृंगार, वीर, करुण आदि नवरस लौकिक रस हैं, पर वैष्णव-साधना को तो अलौकिक रस चाहिए। लौकिक रस के माध्यम से श्रीकृष्ण जैसे विराट् प्रतिमान की रसानुभूति कैसे होगी? वहाँ तो कुछ भी शारीरिक और लौकिक नहीं। वहाँ भाव की साधना है। वहाँ भाव में स्नान करना, नीर का स्पर्श नहीं करना है। इस साधना में भाव को अलौकिकता के पावक में तपा कर शुद्ध कर लेते हैं। इसी अलौकिकता के धरातल पर चढ़कर वैष्णवों ने रस-सिद्धान्त की रचना की।

वैष्णवों ने श्रुति के आधार पर माना है 'रसो वैस:'— स्वयं भगवान् ही महारस हैं। इस शुद्ध अखण्डित अनिर्वचनीय रसानुभूति को वे पाँच प्रकार के भावों के रूप में ग्रहण करते हैं—शान्ति, प्रीति, प्रेम, अनुकम्पा और कान्तारति। इन्हीं भावों के अनुसार पाँच प्रकार के रसों की अभिव्यक्ति होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। भारतीय साहित्य की सारी वैष्णव-कविता इन्हीं पाँच रसों को अभिव्यक्त करती है। इन रसों का विवेचन हिन्दी और असमिया-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में हम यहाँ पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

मधुर रस

सर्वप्रथम 'मधुर रस' को लें। इसका दूसरा नाम 'वैष्णव शृंगार रस' भी हो सकता है। इसका स्थायी भाव है 'कान्तारति'। भक्त श्रीकृष्ण के प्रति अपने को कृष्ण की प्रिया मानकर या 'मंजरी' (क्रीड़ाकाल में सहायक नायिका) मानकर इस रस की उपासना करता है। काव्य में कवि राधा और कृष्ण के इस रूप को जब व्यक्त करता है, तो वह मधुर रस की कविता होती है। भक्तों में इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। चैतन्यदेव और काव्य में बंगाली, वैष्णव कवि चण्डीदास, गोविन्ददास या मीरा की कविताएँ। गौड़ीय वैष्णवों ने कृष्ण से अधिक महत्व राधा को दिया है। जगत् में जो कुछ मधुर, जो कुछ सुन्दर है, जहाँ कहीं भी समर्पण, जहाँ कहीं भी दो मनों की कथा का संगम है, वहाँ राधा की परछाई आकर खड़ी हो जाती है। यह श्रीकृष्ण की 'आह्लादिनी शक्ति' है। इसे काम-लोलुपता समझने की भूल नहीं होनी चाहिए।

मौलिक विकास

हिन्दी-साहित्य में मधुर रस मौजूद है। परन्तु राधाभाव का विकास हिन्दी में मौलिक ढंग से हुआ है। गौड़ीय वैष्णव-परम्परा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। राधा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का जो व्यक्तित्व सूरदास ने विरचित किया है, वह प्रेम का निर्मल मर्यादासम्मत, पर साथ ही सरस विकास है। बंगाली वैष्णवों की राधा विवाहिता हैं और उनकी सास का नाम 'जटिला' है। पर सूर की राधा गाँव की भोरी छोरी है, बचपन में ही श्रीकृष्ण के सम्पर्क में आती है। ज्यों-ज्यों दोनों बड़े होते जाते हैं, एक दूसरे के प्रति प्रीति बढ़ती जाती है और पहले पूर्वराग, फिर 'राग', फिर 'अनुराग' तथा अन्त में 'महाराग' की अवस्था तक पहुँच जाती है। यह शुद्ध प्रेम है—गौड़ीय राधाभाव के परकीया रूप से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं। पर बंगाली वैष्णवों ने विशेषत: चैतन्यदेव ने स्पष्टत: घोषित किया है कि परकीया भाव ही तीव्रतम राग का द्योतक है। बात सही है, पर है मर्यादाविरुद्ध। मर्यादा-प्रेम हिन्दी-प्रदेश का जातीय गुण है। अत: सूरदास भी मर्यादा के प्रति प्रतिबद्ध रहे। हिन्दी में प्रसिद्ध कवियों में मीरा ही एक ऐसी है (जिन्हें अब गुजराती दावा करने लगे हैं कि गुजराती कवयित्री है) जिन्होंने अपने को कृष्ण की प्रिया मानकर कविता की है। पर उनमें भी 'स्वकीया' भाव ही है। वे अपने को कृष्ण की विवाहिता वधू मानती थीं।

कान्ताभाव का समादर नहीं

जहाँ तक असमिया काव्य का प्रश्न है मधुर रस और कान्ताभाव यहाँ समादर नहीं पा सका है। महापुरुष श्री शंकरदेव ने इस राधाभाव को एकदम प्रश्रय नहीं दिया है। गौड देश के पड़ोस में रहकर राधाभाव की इतनी अवहेलना आश्चर्यजनक है। पर इसके कई कारण हैं। एक तो दार्शनिक कारण है। शंकरदेव भागवत की अद्वैतवादी व्याख्या में विश्वास करते थे। उनके धर्म का नाम ही है 'एक'—शरण धर्म। 'एक' में उनका विश्वास उस सीमा तक चला गया है कि युगल मूर्ति 'राधा-कृष्ण' को भी उन्होंने अस्वीकृत करके मात्र कृष्ण को ही परब्रह्म निरंजन निराकार के अवतार के रूप में ग्रहण किया है। माधव प्रकृति और पुरुष दोनों के नियन्ता हैं। उन्हीं एकमात्र माधव की आराधना में उनका विस्तृत साहित्य, जो वरगीतों, प्रबन्ध-काव्यों (भागवत दशम, रामायण उत्तरकाण्ड) एवं अनेक खण्ड-काव्यों—नाटिकाओं ('भावना नाट') तथा संस्कृत और असमिया दार्शनिक ग्रंथों (भक्तिरत्नाकर, भक्तिरत्नावली) आदि तक फैला है। उन्होंने कई स्थानों पर कहा है—

प्रकृति पुरुष दुहोरो नियन्ता रे माधव।
समस्तरे आत्मा, हरि परम बान्धव।

राधाभाव के तिरस्कार का दूसरा कारण भी है। कामरूप, शक्ति-साधना की गुह्यतम-पद्धति का केन्द्र था—यहाँ महायोगिनी कामाख्या का निवास है। शंकरदेव के समय सारा कामरूप गुहा योगिनी-चक्रों से भरा हुआ था, जिसमें पंचमकार (मांस, मत्स्य, मद, मैथुन, और मुद्रा) की अबाध साधना चल रही थी। जनता ऐसे धर्म से त्रस्त थी। नारीमात्र का अर्थ था त्रिपुरकामिनी। उसी शताब्दी (अर्थात् 16वीं शती), का लिखा हुआ 'योगिनी तन्त्र' आदेश देता है—"मातृयोनि को छोड़कर तंत्र-साधक को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्व की आबालवृद्ध किसी भी योनि को ताड़ित करने का अधिकार है।'' ऐसे युग में उन्होंने युगलमूर्ति की उपासना करके राधा को महत्व देना सामाजिक दृष्टि से मंगलमय नहीं समझा और एक सादी-सरल 'पुरुषप्रधान' उपासना को स्वीकृत किया। उन्होंने राधा-भाव के महाभाव-साधना का तिरस्कार कर सीधे-सादे 'कीर्तन'-धर्म की शिक्षा दी। इसी से असमिया वैष्णव-साहित्य में राधा पर आश्रित मधुरभाव अनुपस्थित है। हाँ, गोपियों पर आश्रित मधुरभाव उन्होंने तथा उनके शिष्य श्री राम आता (श्री राम बाबा) और रामानन्ददास ने अपने पदों में व्यक्त किया है। इनमें से बहुत से पदों की भाषा शुद्ध असमिया न होकर मैथिली मिश्रित 'व्रजवुली' ('ब्रजबुलि' बंगाल में) है। सुनने पर बिल्कुल हिन्दी जैसी लगती है। उदाहरण के लिए महापुरुष शंकर का एक वरगीत है—

भाईमाधव विरहे!
हरय चेतन तनु जीवन ना रहे ॥ ध्रुव ॥
चाँद चंदन मन्द मलय समीरे
केशव बिने विष वरिषे शरीरे
घन-घन हानय मदन पंच बान
कोकिल कुहुकुहु लेहू मेरो प्राण
पंकज पात अहित हिम बारी
मधुकर निकर करय महामारी
ऐचन (ऐसन) समये मधुपुरि पिउ प्राण
कृष्ण किंकर रस शंकरे भाण।

कृष्ण किंकर महापुरुष शंकरदेव का यह गीत मधुर रस के अन्तर्गत आता है। पर आलम्बन परकीया राधा नहीं। गोपियों या रुक्मिणी-सत्यभामा को लेकर लिखे गये मधुर रस के पद, नाटिकाएँ और काव्य (रुक्मिणी हरण, पारिजात हरण आदि) मिलते हैं, पर प्रेम का रूप मर्यादासम्मत और स्वकीया है। कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दी और असमिया वैष्णव-साहित्य में मधुर रस का स्वभाव समान है। शृंगार रस का परित्याग नहीं है। संयोग-वियोग दोनों प्रकार के शृंगार और मधुरभाव को व्यक्त करने वाले पद हैं, परन्तु आलम्बन 'स्वकीया' है।

मूल भाव—दास्य

असमिया वैष्णव कविता का मूल भाव है—दास्य। महापुरुष शंकर ने दास्य-प्रीति का आख्यान सर्वत्र किया है। श्रीकृष्ण को परमब्रह्म मानते हुए उनके प्रति 'एक शरण' भाव की साधना को ही उन्होंने विकसित किया है। 'दशम स्कन्ध भागवत' (असमिया) और 'नामघोष' की रचना का उद्देश्य ही है दास्य-प्रीति का समर्थन। हिन्दी-साहित्य में इस भाव का सहधर्मी कवि कृष्ण-काव्य में न मिलकर राम-काव्य में मिलता है। भक्तकवि तुलसीदास ने दास्यप्रीति को ही ग्रहण करके काव्य-रचना की है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में स्पष्टतः इसकी घोषणा की है कि अनन्य गति दास ही सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं और इस भक्ति के प्रतीक हैं हनुमान। इसकी करुणतम व्यंजना किष्किन्धाकाण्ड में होती है—

एकु मैं मन्द सोहबस कुटिल हृदय अग्यान
पुनि प्रभु मोहि बिसारेऊ दीनबन्धु भगवान।
सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनई प्रभु पोसें।

सुतीक्ष्ण, भरत, हनुमान आदि के माध्यम से उन्होंने अपना दृष्टिकोण अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है। 'विनयपत्रिका' और 'दोहावली' में उन्होंने स्वतः वह भूमिका ग्रहण की है। शंकरदेव ने भी इसी भाँति अपने को "केशव चरणं सरोरूहं किंकर शंकर एहु अभिलाषी" कहते हुए प्रत्येक वरगीत और पद के अन्त में अपने दासत्व (किंकरता) की घोषणा की है। उनका दूसरा नाम ही 'कृष्ण किंकर' पड़ गया है। यहाँ पर स्मरण रखने की बात है कि शंकरदेव ने कृष्ण के समान ही राम को अभेदभाव से सर्वत्र समान महत्व दिया है। 'उत्तरकाण्ड', 'रामविजय नाट' आदि रचनाओं और अनेक वरगीतों के अन्त में 'भणिता' में राम का उल्लेख है, श्रीकृष्ण के साथ-साथ श्रीराम का गुणानुवाद उनके कीर्तन-धर्म का प्रमुख लक्ष्य है। पर उनका आधारभूत ग्रंथ है 'भागवत'। इससे कृष्ण गुणानुवाद की मात्रा अवश्य ज्यादा हो गयी है।

नारद शुक मुनि रामनाम बिनि
नाहि कहल गति आर।
कृष्ण किंकर कय, छोर मायामय,
राम चरम तत्वसार ॥

अनन्य भक्ति

तुलसीदास ने दास्य-भक्ति के अन्दर सम्पूर्ण समर्पण और अनन्य गति पर जोर दिया है। "मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ विश्वासा।" "तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ" आदि पंक्तियों में उन्होंने अनन्यता का समर्थन किया है। शंकरदेव ने भी प्रत्येक स्थल पर इसी भाव को 'एक शरण' धर्म कहकर प्रसारित किया है। शंकरदेव ने तुलसीदास से कहीं अधिक कट्टरता से इस 'एक शरण' एवं अनन्यता का प्रतिपादन किया है। तुलसीदास की अनन्यता व्यक्तिगत है। लोक-साधना के प्रश्न पर वे उदार थे और शिव-शक्ति या अन्य सम्प्रदाय वालों का भी समादर करते थे। पर शंकरदेव इस माने में ज्यादा कट्टर थे। आज एक महापुरुषिया वैष्णव या गृहस्थ 'दुर्गा' या 'शिव' के मन्दिर के सम्मुख शीश झुकाना नहीं पसन्द करता, विशेषतः 'दुर्गा' या 'काली' के सम्मुख! (शैवोपासना असम में शाक्तोपासना का एक गौण अंग बनकर ही टिकी है। उत्तर-दक्षिण की तरह स्वतन्त्र शैवोपासना इस समय असम में नहीं ही है।)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सख्यभाव

तीसरा रस है 'सख्य' अर्थात् कृष्ण को सखारूप में मानकर भजना। विभीषण, सुग्रीव, द्रौपदी, अर्जुन, उद्धव और सुदामा इसी भाव के प्रतीक हैं। असमिया वैष्णव-काव्य में ये प्रतीक पर्याप्त रूप से समादृत हैं, पर प्रबन्धकार की दृष्टि से उन्हें 'सख्य' रस के परिपाक के रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी-साहित्य में क्या, समस्त भारतीय वैष्णव-साहित्य में शायद सूरदास की समानता इस रस में कोई नहीं कर सकेगा। सूर अक्सर प्रभु के साथ प्यार की लड़ाई ठान देते हैं।

बांह छुड़ाये जात हौ, निबल जानिकै मोहिं।
हिरदै से जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहिं॥

इसके बाद है वात्सल्य। वात्सल्य में सूरदास भारतीय वैष्णव साहित्य क्या, विश्व-साहित्य में भी बेजोड़ लगते हैं। पर असमिया वैष्णव कविता में भी वात्सल्य रस अत्यन्त सबल रूप से विद्यमान है। श्रीमंत शंकरदेव के शिष्य एवं उत्तराधिकारी श्रीमंत माधवदेव ने उसे विस्तार दिया है। 'जागरण', 'चलन', 'नाधन', 'गोचारण', 'चातुरी', 'उपालम्भ' आदि स्थितियों में, बाल-मनोविज्ञान एवं वात्सल्य से अनुप्राणित सरस पदों का सृजन किया गया है। उदाहरण के लिए 'वचन चातुरी' देखिये। कृष्ण और बच्चों की तरह माँ से हठ करते हैं—"माँ, मुझे आज स्नान नहीं करना है। तू देख, धेनु चराते समय बनबन भटकना पड़ा है और सारा शरीर खरपात से छिल गया है।" 'ब्रजबुली' मिश्रित पुरानी असमिया में श्रीयुत् माधवदेव इस भाव को व्यक्त करते हैं—

यशोदा क आगू बोल हरि भाव
आजु चिनान करब नहिं आइ
फिरलौ बने बन धुने बिचारी
त्रिने कटला सब शरीर हमारी।

(आई-आई माँ (आर्यिका) अब भी असमिया में 'आई' शब्द ही चलता है। भोजपुरी में 'आई' या 'आजी' पितामही के लिए प्रयुक्त होता है।)

सूर ने जितनी संख्या में वात्सल्य के अनुभावों को प्रयुक्त किया है, माधवदेव ने उतनी ही संख्या में उतनी सूक्ष्मता के साथ भले ही न प्रयुक्त किया हो, परन्तु उत्तर-भारत के वैष्णव-साहित्य में यदि कोई सूर का सहधर्मी कवि है तो वह है श्रीमंत माधवदेव।

शान्त रस

अन्तिम रस है शान्त। सारी वैष्णवता का ही अन्तिम लक्ष्य है 'शान्त रस'। अतः यह समान रूप से शक्तिशाली ढंग से हिन्दी, असमिया, वैष्णव-कविताओं में व्यक्त हुआ है। बंगला वैष्णव कविता में मधुर भाव के आगे शेष भाव गौण है। क्योंकि गौड़ीय वैष्णव-साधना का उद्देश्य चरम शान्ति नहीं, भावोन्मेष है। पर असमिया और हिन्दी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दोनों में 'शान्त' का समान समादर है। शंकरदेव का शान्त रस कभी-कभी इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वे कबीर की तरह लगते हैं। इस साम्य-भ्रांति के ही कारण कुछ असमिया और गैर असमिया पण्डितों ने श्रीमंत शंकर और कबीर में 'साम्य' देखा है, जो बिल्कुल भ्रम है। शंकरदेव भागवत के अद्वैतवाद को मानते हुए भी अवतारवादी थे और कबीर अवतार-निरपेक्ष। मूलभित्ति और संस्कार अलग-अलग हैं और मेरी तो अपनी धारणा है कि असमिया विद्वानों के कथन के बावजूद शंकरदेव शुद्ध अद्वैतवादी न होकर 'विशिष्टाद्वैत' से सम्बन्धित हैं। शुद्ध अद्वैतवाद से 'भक्ति' कैसे संभव है? यह तो मुक्ति का मार्ग है, भक्ति का नहीं खैर, ये सब बातें विषयान्तर हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि असमिया वैष्णव-कविता में दास्य के समानान्तर ही शान्त रस बहता है—ठीक तुलसीदास की तरह, असमिया कवियों के यही दो मूल रस हैं—दास्य और शान्त। वात्सल्य सहायक है। मधु गौण है और सख्य प्रायः अनुपस्थित है।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असमिया लोक-साहित्य में श्रीकृष्ण

जब हम शुद्ध लोक-साहित्य में कृष्ण-लीला की बात उठाते हैं, तो हमारी नजर जाती है उस साहित्य पर जो कण्ठ-परम्परा से चालू है और धर्म या सम्प्रदाय के घेरे के बाहर है। यह लोक-साहित्य असमिया लोक-संस्कृति का अंग है। असमिया वैष्णव साहित्य से इसका सीधा नहीं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही है और वह भी यत्र-तत्र छिन्न-सूत्र है। यह सही है कि भारतीय संदर्भ में धर्म और संस्कृति परस्पर सहयोगी हैं, परन्तु दोनों एक ही तथ्य नहीं। दोनों दो तरह की बातें हैं। उदाहरण के लिए, असमिया कृष्ण-लीला को ही लें। असमिया धर्म-साधना में कृष्ण-लीला महापुरुष शंकरदेव द्वारा प्रस्तुत ढाँचे में बाँधकर प्रस्तुत की गयी है परन्तु लोक-साहित्य के लिये यह जरूरी नहीं कि वह भी महापुरुष की दार्शनिक पद्धति का ही अनुगमन करे। लोक-साहित्य में कृष्ण-लीला को रीतिमुक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उसमें कृष्णलीला जनसाधारण के भावों का आलम्बन मात्र बन कर रह गई है। महापुरुष के धर्म में राधा को कोई स्थान नहीं। यह एकमात्र 'पुरुषोत्तम' ब्रह्म की ही उपासना है। यह एकशरण धर्म है। इसमें 'प्रकृति' वर्जित है परन्तु असमिया लोक-साहित्य में ऐसी बात नहीं। उसमें राधा, रुक्मिणी, उषा सभी वर्तमान हैं। उसमें दान-लीला है, विहारलीला है, नौकालीला है और राधाकृष्ण की नोक-झोंक, भावोल्लास, संयोग-विप्रलम्भ आदि सभी हैं। असमिया वैष्णव धर्म का प्रारम्भ होता है 15वीं और 16वीं सदी में महापुरुष शंकरदेव के साथ। परन्तु असम में इसके पूर्व भी पौराणिक विष्णुधर्म चालू था और विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण की महिमा से असमिया लोकमानस पूरा परिचित था। वस्तुतः असमिया लोक-संस्कृति में कृष्ण का अवतार अखिल-भारतीय लोक-संस्कृति के उत्तराधिकार सूत्र से आगे है। इसका सम्बन्ध आर्यों की उन प्राचीन लोक-गाथाओं से है जो यादवों के आभीर और गोप कबीलों में प्रचलित थीं। इसका उल्लेख पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' और पतंजलि के 'महाकाव्य' में है। इसका उल्लेख 'गाथासप्तशती' की दो गाथाओं में भी मिलता है। उदाहरण के लिए असम में एक बहुप्रचलित गीत 'कानाई पार करा हे, वेलोर परे छाया' सुनते हैं तो हमें 'अवहट्ट' भाषा की एक गाथा का अनायास स्मरण हो आता है जिसका उदाहरण 'प्राकृत पेंगलम्' में दिया गया है।

आरे रे, बाहइ कान्ह नाव,
छोरी, डगमग कुगति न देइ
तइ इथि नइअहि, सन्तार देई,
जो चाहसि सो लेइ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक समय था कि कामरूपी भाषा भी इसी अवहट्ट की सहोदरा थी। विद्यापति की 'कीर्तिलता' भी अवहट्ट-काव्य है और मिथिला तथा कामरूप काफी निकट हैं। अवहट्ट के ही किसी रूप से वर्तमान असमिया का सूत्रपात 10वीं सदी से प्रारम्भ हुआ होगा। 14वीं सदी में बड़ चण्डीदास ने इस भाषा में 'कृष्ण-कीर्तन' लिखा था जिसमें उत्तर बंगाल और कामरूप की भाषा का मूल स्वरूप मिलता है। उत्तर बंगाल यानी कूचबिहार की भाषा का विकास ही कामरूपी अपभ्रंश से हुआ है। इसे सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या महोदय भी स्वीकार करते हैं। इसके बाद 15वीं और 16वीं सदी में आते हैं चार महापुरुषगण, सर्वश्री शंकरदेव, माधवदेव, दामोदरदेव और हरिदेव। इनकी प्रचेष्टा से असमिया धर्म ही हो गया कृष्णधर्म और इसका व्यावहारिक रूप हुआ एकमात्र परमपुरुष श्रीकृष्ण की नाम आराधना। इस बात का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा असम की लोकसंस्कृति पर। शंकरदेव से पूर्व जो बातें लोकसंस्कृति में बीज-रूप में थीं वे बढ़कर विशाल बशीवट में परिवर्तित हो गयीं। स्वयं शंकरदेव ने लोकसंस्कृति की बहुत सी तकनीकों का आहरण किया। जैसे, नामगीतों का ढाँचा, नाट्य और वाद्य की लोक-परम्परायें। इन्हें ही उन्होंने कृष्ण-कथा का आलम्बन प्रदान करके पुनः लोक-जीवन में प्रतिष्ठित कर दिया। फलतः असमिया लोकसंस्कृति ही कृष्णमय हो गयी। वस्तुतः असमिया संस्कृति में कृष्ण-लीला का इतना व्यापक स्थान महापुरुष शंकरदेव की चेष्टाओं का ही फल है। परन्तु लोकसंस्कृति का आयाम लोकधर्म से व्यापक और वृहत्तर होता है। अतः इसमें यत्र-तत्र बहुत सी ऐसी बातें भी आ गयीं जो महापुरुषों की दार्शनिक पद्धति से मेल नहीं खातीं। परन्तु उनका सम्बन्ध असम के अखिल भारतीय उत्तराधिकार से है।

असमिया भाषा में लोकगीतों के लिए 'नाम' संज्ञा चलती है। यह भी लोक-संस्कृति पर असमिया नाम-कीर्तन-प्रधान धर्म का ही प्रभाव है। हम इन्हें 'नामगीत' भी कह सकते हैं। कृष्ण-लीला का संदर्भ अनेक प्रकार के नामगीतों में पाया जाता है। 'बिआ नाम' अर्थात् विवाह गीत, वृन्दावनी नाम, गोरखीया नाम (गोपनीत), 'नाव खेलार गीत', 'बारहमासी गीत', 'मालिता गान', 'जूना गीत', और 'बेबलिया गीत' में कृष्ण की लीलाओं का बार-बार उल्लेख हुआ है। समस्त भारत में विवाह के अवसर पर नारी-कण्ठ में 'मंगलचार' गाने की प्रथा है। ('गावहु दुलहिन मंगलचार'— कबीरदास) असम के 'मंगलगीत' में कृष्ण-रुक्मिणी तथा उषा-अनिरुद्ध से सम्बन्धित गीत खूब चालू हैं। असमिया लोग मानते हैं कि कुण्डिनपुर और शोणितपुर असम में ही थे। शोणित के लिए असमिया शब्द 'रक्त' नहीं 'तेज' है। वर्तमान 'तेजपुर' ही 'शोणितपुर' था। वहाँ पर वाण का महाभैरव मन्दिर है तथा पास की पहाड़ी (मालुकपुंग) पर उषा के अग्निगढ़ की कल्पना अरुणाचल में की जाती है। इतिहास चाहे जो कहे, परन्तु ये सब बातें असम के अन्दर शताब्दियों व्यापी चालू लोक विश्वास के अंग हैं। इसी से यहाँ के विवाह-गीतों में प्रायः इन दोनों नायिकाओं का बार-बार उल्लेख होता है। मांटीमंगल के गीत का एक अंश है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

माटी से बहि रूकमिनिये माटी मंगल चाय
केतिया आहिबो कृष्ण सोनार बांशी बजाई
माटी ते बहि रूकमिनिये मने मने गुने
कृष्ण आहिसे बुलि कान पाती शुने।

यह 'मांटी मंगल वही चीज है जो भोजपुरी में 'माटीमांगर' (मटमांग) तथा पश्चिम में 'मटकोड़' कहा जाता है। विवाह के पूर्व मिट्टी कोड़ने, जलभरा घट लाने तथा कन्या का हल्दी अभिषेक करने वाले अवसरों से सम्बन्धित कई गीतों में कृष्ण की प्रतीक्षा में रत रुक्मिणी तथा 'वानर' जार जियरी, सर्वांग सुन्दरी 'ऊखा' (उषा) का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के गीतों में प्रेम, प्रणय, उत्कण्ठा, भावोल्लास के साथ-साथ हँसी-मजाक और 'कौतुक' की बातें भी पिरोयी गयी हैं। इस प्रकार की बातें असम ही नहीं सर्वत्र भारत में मांगलिकता के अनुकूल मानी गयी हैं। इसलिए विवाहगीतों के लिये 'मंगलचार' शब्द चलता है।

श्रीकृष्ण का असमिया लोकगीतों में प्रत्यक्ष प्राधान्य है वृन्दावनी नामों में। महापुरुषिया धर्म में राधाकृष्ण की प्रेमलीला वर्जित है। गोपियाँ हैं परन्तु राधा नहीं हैं। लेकिन वृन्दावनी नामों में राधा विद्यमान हैं। यमुना का तीर है। कान्हा धेनु चराने जाता है। उसके मुक्त केश हवा में उड़ रहे हैं। उस पार से पुकारती राधा कहती हैं, "अरे, कृष्ण पार कर दे।"

यमुना तीरे से कानाई धेनु चारे
माथा ते मुकुलि चूलि
सिपार परा राधाई डाक दिये
मोके पार करा बूलि।

कृष्ण कहता है, "नाव नहीं है! कैसे पार करूँ?" राधा बड़ी ही काकुती-मिनती करती हैं। अन्त में जब शाम होने को होती है तो कृष्ण नाव लेकर आता है।

आबेली बेली का कानाई नाव मेले
पाचोवा बातोह पाले।

पश्चिमी बातास पाकर कृष्ण नाव चला देता है। कृष्ण कमर हिला-हिला कर 'बइठा' डाँड़ चला रहा है। इस अवसर पर गीत में कुछ 'ग्राम्यता' का भी प्रवेश हो जाता है। परन्तु यह लौकिकता स्वाभाविक है। क्योंकि यहाँ राधा-कृष्ण देवी-देवता नहीं। ये तो दो युगलप्रेमी मात्र हैं। एक अन्य गीत में कहा गया है— "क्या कारण है कि यह गैल या पगडण्डी सदैव नूपुर-सुरों से मुखरित रहती है। शायद यह राधारानी की गैल है। कृष्ण जब-जब वंशी टेरते हैं, राधा बाहर निकल आती है। उसके नूपुर रुनुक-झुनुक बजते हैं। वृन्दावनी नामों में अनेक गीत आते हैं जो दानलीला, फूलशय्या लीला, खण्डिता नायिका और 'प्रोषित पतिका' के गीत हैं। असमिया लोकसंस्कृति में ये वृन्दावनी नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये पूरे असम में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महापुरुष शंकरदेव से भिन्न पथ जाकर ये अपनी अन्तर्निहित संभावनाओं का पूरा विस्तार नहीं कर सके। इन्हें कोई सम्प्रदायगत आश्रय नहीं मिला। परन्तु असमिया लोकगीतों के विशेषज्ञ श्री लीला गर्गे के शब्दों में—"यदि ये कदम्ब वृक्ष नहीं बन सके तो कम से कम दूर्बादल बन कर तो स्थित ही हैं।" वृन्दावनी नामों का प्रभाव असम के मुसलमानों की 'हुचुरी' (हुसुरी) और 'जिकर' के कुछ बोलों पर भी है। एक उदाहरण लें—

एई गोविन्दाई राम
राधा बोले कृष्णाई
आमा के पार करा
एरी यमुना' जल एई
एइ गोविन्दाई राम।

कृष्णाइ मूड़'त
वकुल फूलर पाही
नियर पाई मुकुलि हलो एई
एइ गोविन्दाई राम।

असमिया लोक-साहित्य में रामसीता और राधाकृष्ण पर बारहमासी गीत लिखे गये हैं, हिन्दी के बारहमासी फागों की तरह। जायसी के 'पद्मावत' का सुन्दर प्रयोग हुआ है। असमिया लोकगीतों का 'बारहमासा' पर्याप्त साहित्यिक है। परन्तु लोकगीतों का प्रधान धर्म साहित्यिक विदग्धता नहीं, सादगी और सरलता दोनों गुणों से ये लोकगीत भरेपूरे हैं। राधाकृष्ण की प्रीति और प्राकृतिक परिवेशों का वर्णन दोनों साथ-साथ होता है—

बहाग महा'त राधे देउतार गर्जनी
देउतार गर्जनी सुनि मत्से देइ ओजनी
जेठ माह'त राधे उजेठुवारे खर
बनेरे हरित रहु से ओ चाये घर।

"ओ राधे बैसाख मास में देव (मेघ) गरजते हैं (स्मरण रहे कि असम में बैसाख में ही वर्षा शुरू हो जाती है।) और मछलियाँ उछलने लगती हैं। परन्तु जेठ मास में सूखा हो जाता है और वन का हरिन पशु भी घर की ओर आ जाता है।" इन बारहमासी गीतों में सर्वाधिक विचित्र बात है दुर्गा का उल्लेख। गीत के अनुसार आश्विन मास में मुख्य घटना है दुर्गा को बलि-उत्सर्ग। कामरूप कामाख्या की शाक्त लोक-परम्परा का संकेत है—

आहिन माहते, राधा, दुर्गाइ बलि खाय
हाँह दिये जाँक जाँके पारार सीमा नाँइ।

(ओ राधा, आश्विन में दुर्गा बलि का भक्षण करती है, झुण्ड के हंसों की और कबूतरों की तो सीमा ही नहीं।)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असमिया लोकगीतों में गोचारण गीत ('धेनु लइयो जाय'....), नौकायन गीत ('कानाइ पार करा हे!') एवं बाल लीला के गीतों में कृष्ण नाम का प्रचुर उपयोग हुआ है। कृष्णलीला का प्रयोग 'पुतुलनाच' तथा 'भावरिया नाट' (भावना नाट्य) में विपुल मात्रा में हुआ है। ये सब कला रूप असम की पुरानी लोक-संस्कृति के अंग हैं। एक दिलचस्प गीत है 'जूनागीत' (जुलाहागीत)। कुछ लोग कहते हैं कि यह लोक-गीत नहीं महापुरुष शंकरदेव की रचना है। परन्तु यह तथ्य विवादास्पद है। इसकी 'थीम' बड़ी मनोरंजक है। इसकी 'कथा-रूढ़ि' अवश्य ही लोकमानस से आयी है, शब्द चाहे जिसके हों। कृष्ण ताँती से कहते हैं कि राधा के लिए एक परिधान बुन दो। ताँती पूछता है—''कैसा रंग, कितना लम्बा, कितना चौड़ा यह सब बताइये। तभी तो ठीक से बुन सकूँगा।'' तब कृष्ण उत्तर देते हैं—

दीघल सारंग पूतले वर
तार आगे दीबा गुना बिस्तर
शिर ते लिखिबा बासुदेव पिता
ओरनी ते लिखिबा देवकी माता।

गीत लम्बा है। भावार्थ यह है—'लम्बाई में सारंग' यानी धनुष प्रमाण हो। चौड़ाई में भी पर्याप्त हो। आगे पुष्पदलों और बिन्दुओं की पाँती बैठाना। फिर माथे पर अंकित करना वासुदेव पिता का नाम, और ओढ़नी पर लिखना देवकी माता का नाम। भुजा वाले भाग पर लिखना 'भैया बलराम' और हृदय पर लिखना 'कृष्ण'। घुट्ठी पर मयूर पंखों की पाट बनाना और घुटने पर ताराओं की पाँत अंकित करना इत्यादि।

असमिया लोकसाहित्य में कृष्णकथा के संदर्भ में सर्वाधिक रहस्यमय और दिलचस्प, परन्तु अज्ञात गीत है 'केवल घोषा' के। 'केवल' या 'केवलिया' का अर्थ होता है मुमुक्षु या संन्यासी। परन्तु इन गीतों का एवं इनमें अन्तर्भुक्त सिद्धान्तों का लोक में प्रचलन नहीं। ये एक गुह्य या रहस्यवादी सम्प्रदाय से जुड़े हैं। ये उन लोगों के साम्प्रदायिक गीत हैं जो असमिया वैष्णव धर्म की एक गोपनीयता-प्रधान शाखा काला संतति रचते हैं। इन्हें ही 'रातिखोवा' (रात्रिभोगी), अरीतिया (रीतिमुक्त) और 'भीतर-पथिया' (गुप्तपंथी) कहा जाता है। गोपनीयता के कारण इनका कुछ दुर्नाम भी है। ऐसी साधना को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता। इन रात्रि-भोगियों के अनुसार भक्ति तीन तरह की हैं—(1) 'निर्गुण' जैसे नानक-कबीर की भक्ति। (2) 'प्रेमा' अर्थात् वैष्णवों की भक्ति। (3) 'केवलिया' जो इस सम्प्रदाय की है। ये गुह्यमार्गी वैष्णव हैं। इनकी साधना के मुख्य अंग हैं—गुरुतत्व, तत्वविचार (दर्शन), मंत्रजप, नामकीर्तन और कृष्ण-शरण। महापुरुष शंकरदेव को ये भी नमन करते हैं और इनका दावा है कि इस रहस्यवादी वैष्णवता के मूल में हैं महापुरुष से सम्बन्धित भवानीपुर के गोपाल आता। 'आता' का अर्थ 'पितामह' यानी 'बाबा' होता है। इनका छपा साहित्य उपलब्ध नहीं। ये किसी को जल्दी कुछ बताते भी नहीं और रहन-सहन में ये आधा वैष्णव हैं और आधा सहजिया या वज्रयानी। मेरी धारणा है कि कामरूप किरातमत की भूमि रहा है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योगिनी पीठ है, और वैष्णव धर्म का यह नया संस्करण कामरूप की सनातन लोक-परम्परा का ही एक नया संस्करण है। इनकी साधना का मूल है 'रस'। ये 'रस' के उपासक हैं। गुरु 'रस' का दुकानदार है। 'रस' के भोग द्वारा ही वैष्णवभाव का अर्जन हो सकता है। इनकी भाषा भी बड़ी रहस्यमय है। एक भणिता में कहा गया है— मैं पूर्ण रस को देखता हूँ। ये बारह रस कौन हैं? इसका अन्त मैं नहीं पाता। बारह रस ही बारह महंत हुए (इनके अपने सम्प्रदाय हैं)। नौ रस तो बाहर-बाहर (स्पष्ट) हैं। परन्तु तीन रस गर्भ में रखे हैं (यानी अव्यक्त हैं)। शंकर, माधव और गोपाल बाबा ने अस्थि तक चूसकर (अत्यन्त प्रगाढ़ रूप से) इस रस का भोग किया। मुझे लगता है कि 'शंकर माधव' शब्दों का अर्थ ऐतिहासिक शंकर-माधव नहीं बल्कि कुछ 'गुप्त' अर्थ है। उदाहरण के लिए एक अन्य भणिता देखिए—

आमी नौ भनी रसेर पोहारी
रसपुर नगर घर।
माधवर जी यारी शंकरर बोवारी
काह को न करौं दर।

(हम नौ बहनें हैं। रस परोसती हैं। रसपुर नगर हमारा घर है। हम 'माधव की पुत्री हैं', शंकर की पुत्र-वधू हैं, किसी से मोल-तोल नहीं करतीं।)

यहाँ पर बता देना उचित होगा कि यह सम्प्रदाय आज समाप्तप्राय है। इसके 'समझदार' खतम हो रहे हैं। इनका साहित्य मौखिक है। परन्तु यह नृतत्वशास्त्री और इतिहास के लिए बड़े काम की चीज हैं। जनजीवन में इसका कोई महत्व नहीं। "यही लागि इनकी कथा अति संक्षेपहि कही।"

वस्तुतः असमिया लोकसंस्कृति का अर्थ होता है सीधा, सरल और उदात्त वैष्णव संस्कृति, जिसके मुख्य गुरु हैं महापुरुष शंकरदेव।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानस, सुरधुनी के उस पार से

अजय नदी का तट। कदम्ब खण्डी घाट। पुरा 'केन्दुविल्व' ग्राम, जिसे आज केंदुली कहते हैं और जो सहजिया वैष्णवों तथा वाममार्गी तांत्रिकों की तीर्थभूमि है। यहीं के श्मशान में कभी प्रसिद्ध तंत्र-साधक कंगल क्षेपा रहते थे और आज भी आप अमावस्या की रात्रि में जायें तो दूर-दूर दो-चार रहस्यमय अग्नि शिखाएँ दिखाई पड़ेंगी। आज से करीब आठ सौ वर्ष पूर्व की एक संध्या की बात है। इसी कदम्ब खण्डी घाट के पास एक कुटीर में कवि जयदेव बैठे हैं। देखते-देखते घटा घिर आती है। आदिगन्त आकाश ढँक जाता है। सुन्दर, श्यामल मेघों की पर्त पर पर्त चढ़ती जा रही है। हरी-भरी धरती, कदम्ब-पाँति, नदी की सतह और पूरे वातावरण का चेहरा कोमल और श्यामाभ हो उठता है। एक मुहूर्त पहले का साफ-सुथरा स्पष्ट दृश्य अचानक अद्‌भुत अपरिचित सा हो जाता है। प्रमत्त वायु और बीच-बीच में कौंधती बिजली उसे और अनजाना रूप देती है, गोया यह कोई और देश हो, कोई और नदी हो, कोई और घाट हो। फिर टप-टप बूँदें! कवि यह सब देख रहा है। कवि का मन भी साथ-साथ देख रहा है। आँखों से देखना कुछ और है और मन से देखना कुछ और। 'मन' दिदृक्षा से देखता है तो वह दृश्य, दृश्य नहीं रह जाता। दर्शन या झाँकी बन जाता है। ज़यदेव का मन अजय नदी के तट पर की इस पावस संध्या में ब्रजमण्डल के भाण्डीरवन की एक द्वापर युग की संध्या का दर्शन कर रहा है। यह एक दिव्य संध्या है जिसमें कवि की 'सिसृक्षा' रंग और संवेदनाएँ भरकर एक श्लोक को जन्म देती है। यह श्लोक है 'गीतगोविन्द' का मंगलश्लोक—

मेघैमेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमै
नक्तं भीरुरमं त्वमेव तदिदं राधे! गृहं प्रापय
इत्थंनन्द निदेशतश्चलितयो प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः।

....और यह एक अजीब बात है कि 'गीतगोविन्द' का विषय वासन्ती रास। यह एक वासन्ती काव्य है। पर इसका मंगलश्लोक पावस की संवेदना को धारण किए हुए है। जयदेव जैसा सिद्धकवि बड़ी आसानी से वासन्ती मंगलश्लोक लिख सकता था। ''ललित लवंगलता परिशीलन कोमल मलय समीरे'' वाली पहली अष्टपदी ही बसन्त का अद्‌भुत वर्णन है। गीतगोविन्द में बसन्त की भूमिका 'उद्दीपन' के रूप में है। ज़यदेव कहते हैं, ''सारी सृष्टि में एक विश्वव्यापी 'स्मर-चेतना' या कामबोध की थरथराहट व्याप्त हो रही है। चंचल माधवीलता ने आम्रवृक्ष का पुलकित होकर आलिङ्गन कर लिया है। फलतः मंजरियाँ फूट उठी हैं और वृक्ष बौरा उठा है। यमुना जल के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पवित्र परिसर में बसन्त की वानस्पतिक चेतना स्फुरित हो रही है। सहज काम-विकारों के रूप में! इस बासन्ती काम-संवेदनाओं का वर्णन ही जयदेव कर रहे हैं और इस उद्देश्य से कि यह वर्णन हरिचरणों की स्मृति का सार भक्ति-चेतना को मनुष्यों के मन में अंकुरित करे।" आज पाठक को लगेगा कि यह कैसी अटपटी बात है पहले तो बासन्ती काव्य लिखा पर इसके मंगलश्लोक में पावस-वर्णन रख दिया और फिर यह दावा कि काम-संवेदना का यह सहज अर्थात् अवदमनमुक्त वर्णन पाठक के मन में भक्ति का बीज अंकुरित करेगा। इसका उत्तर पाने के लिए हमें मंगलश्लोक के बाद तुरत आने वाले श्लोक में गीतगोविन्द पढ़ते प्रस्तावित 'शर्त' को देखना होगा और इस काव्य की अधिष्ठान-भूमि को समझना होगा। जयदेव की शर्त है—

यदि हरिस्मरणं सरसं मनो
यदि विलास कलासु कुतूहलम्
मधुरकोमल कान्त पदावलीं
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।

यदि मन हरिस्मरण से सरस अर्थात् भाव-प्रवण हो और साथ ही कला-विलास की उमंग हो अर्थात् मन भक्त और रसिक दोनों हो, तभी इस मधुर कोमलकान्त पदावली के रूप में व्यक्त जयदेव की सरस्वती को सुनें! इसका मर्म पाने के लिए भक्ति-प्लावितमन और रसोन्मुख रुचिबोध दोनों आवश्यक है। दोनों एक साथ हों, अलग-अलग नहीं। दोनों में से एक के अभाव में इसे अधूरा समझना है। यह जयदेव की ही नहीं समस्त भक्ति-वाङ्मय की रसवादी साधना की प्रमुख शर्त है। जाहिर है कि आर्यसमाजी मन से या आधुनिक काम-विकृत अवदमित मन से 'गीतगोविन्द' को समझने चले तो कोई समझ हाथ नहीं आयेगी और कवि के साथ अन्याय होगा। भगवान 'सद्' रूप हैं और वे काव्य के शान्त रस का विषय हैं। भगवान 'रस' रूप भी हैं। वे काव्य में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य इन पाँचों रसों के माध्यम से व्यक्त होते हैं। उनके 'सद्' रूप की अभिव्यक्ति काव्य में सीमित है। उसका विस्तृत क्षेत्र तो काव्य नहीं दर्शन और नीति-शास्त्र है। उन्हें रस रूप में पहचानने के लिए पवित्रता के साथ-साथ सरसता अनिवार्यतः अपेक्षित है। वल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय में भगवान की अभिव्यक्ति 'रस' रूप में ही अधिक होती है। रसिकता को वैष्णव व्यक्तित्व का प्रमुख लक्षण माना गया है। नाद ब्रह्म के उपासक हरिदास स्वामी के बारे में उक्ति है—"ऐसो रसिक भयो ना ह्वैहैं भूमण्डल-आकाश।" सूरदास ने "मुनि पुनि रसन के रस लेख" का स्मरण करते हुए लिखा। 'रसों का रस' यानी 'महारस' स्वयं भगवान ही हैं। "रसो वैसः।" आधुनिक मनुष्य की मानसिकता अपने मूल आत्मिक केन्द्र से विच्युत हो चुकी है। वह 'रसबोध' को कामबोध और वह भी विकृत अवदमित असहज कामबोध के रूप में समझ पाता है। इससे भिन्न कुछ और कहने पर वह विश्वास नहीं कर पाता और इससे ऊपर की बात समझने की उसकी क्षमता ही चुक गयी है। ईश्वर को एक भावसत्ता यानी रस-सत्ता के रूप में पहचान पाना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो उसके लिए असंभव है। वैष्णव ईश्वर को 'सत् चिद् आनन्द' रूप में स्वीकार करते हुए भी उसे 'रस-चिद्-आनन्द' के रूप में ही पहचानने के आदी हैं। एक वैष्णव ग्रंथ 'ब्रह्मसंहिता' का एक श्लोक है—

आनन्द-चिन्मय-रसात्मया मनः सू,
य: प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरता उपेत्य।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्त्रं,
गोविन्द आदि पुरुषं तमहं भजामि।

(आनन्द, चिद् और रस की आत्मा (सार) स्वरूप जो 'स्मरता' है, 'काम-बोध' है, उसका आश्रय लेकर जो (प्रभु) समस्त प्राणियों के चित्त में अपने को प्रतिफलित कर लेते हैं, जो सारे भुवनों को (काम के) अजस्त्र रूपों में अपने को लीलायित करके विजित कर लेते हैं, उस आदि पुरुष गोविन्द को, 'गो' अर्थात् इन्द्रियों को चारण करने वाले गोपाल को, हम भजते हैं।)

इस श्लोक को आचार्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अपने जर्मनी प्रवास में फ्रॉयड के सामने प्रस्तुत करके इसकी व्याख्या करने को कहा जिसमें वह असमर्थ रहा। केवल 'अवचेतन' के आधार पर इसकी व्याख्या हो संभव नहीं, क्योंकि यह 'ऊर्ध्वचेतन' के मनोविज्ञान (जिसे अरविन्द ने 'अधिमानस' कहा है) की बात है। असल बात तो यह है कि सारे नारायणीय-काव्य और शिल्प 'रस' नहीं 'महारस' को व्यक्त करते हैं। सारे लौकिक रस उसके स्थायीभाव नहीं मात्र सहयोगी या संचारीभाव बनकर आते हैं। यह अनुभव वैष्णव मन के साथ वैष्णव काव्य में भावानुप्रवेश करने पर ही लब्ध होना संभव है। जिसमें लौकिक और अलौकिक दोनों परस्पर विरोधी वृत्तियों को त्याग कर एक पूर्णांग रचनात्मक सामंजस्य में स्थित हो जाते हैं। भारतीय चिन्तन में रस-सिद्धान्त के स्थायीभाव लौकिक और अलौकिक दोनों दिशाओं में गति करते हुए परस्पर मिलकर एक पूर्णांग वृत्त बनाते हैं। लौकिक रसों में प्रथम है शृंगार रस और चरम है शान्त रस। अलौकिक रस का जो प्रस्थान बिन्दु है वह लौकिक का चरम बिन्दु शान्त रस ही है। वहाँ शान्त रस प्रथम हो जाता है और शृंगार रस चरम। अवश्य तब 'शृंगार' की संज्ञा 'माधुर्य' होती है। तो जयदेव की उपर्युक्त शर्त का तात्पर्य यही है कि भगवान को 'रस' रूप में अनुभूत करने के लिए 'नीरस पवित्रता' और 'कुत्सित रसिकता' दोनों अनुपयोगी हैं। प्राचीनकाल का कण्ठ मौन हठयोगी अपनी नीरस पवित्रता की सीमा से अवरुद्ध था, तो आधुनिक भोगवादी संस्कृति का बुद्धिजीवी मनुष्य अपनी 'कुत्सित कामुकता' से। दोनों की समझ के परे है जयदेव की यह 'कोमलकान्त सरस्वती।'

अब दूसरी बात की चर्चा करें, मंगलश्लोक में व्यक्त पावस-मनोभूमि की। यह बात हमें उस विन्दु की ओर ले जाती है जिसे काव्य की 'अधिष्ठान-भूमि' कहा जाता है। इसकी ऐतिहासिक अधिष्ठान भूमि इसकी प्रासंगिकता को व्यक्त करती हैं तथा शाश्वत अधिष्ठान भूमि विषयवस्तु की अन्तर्प्रकृति का। जयदेव ने बासन्ती लीला का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मंगलश्लोक पावस-काव्य के रूप में क्यों प्रस्तुत किया तो इस प्रश्न का सीधा उत्तर तो यह है कि सारी राधा-माधव लीला का प्रस्थान-बिन्दु यही पावस संध्या की घटना ही है। यही वह बीज है जिसका प्रस्तार है समस्त राधाकृष्ण लीला। घटना 'ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण' में दी गयी है। परन्तु इसकी अनुश्रुति बड़ी प्राचीन है। जैसा कि पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बताया है, 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने का मतलब यह नहीं है कि इसकी सारी बातें भी अर्वाचीन ही हों। कृष्ण की राधा से भेंट कब पहले पहल हुई, इस बात को लेकर वैष्णव आचार्यों में मतभेद है। परन्तु एक बड़ी संख्या, सम्भवतः बहुमत ही; इसी घटना को रसलीला का आदिविन्दु मानता है। अतः द्वापर युग के पावस की यह संध्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कहा जाता है "भाण्डीरे यमुना तीरे बाललीलाञ्चकार ह" यमुना तट के भाण्डीर-वन में ही कृष्ण की बाललीला का अधिकांश भाग घटित हुआ था। यहीं पर राधा से उनकी प्रथम भेंट हुई थी। यहीं पर बलराम ने प्रलम्बासुर का वध किया था। 'रस' उपासना के दोनों महाप्रभुओं अर्थात् चैतन्यदेव और वल्लभाचार्य ने इसे पर्याप्त महत्व दिया है। इसी भाण्डीरवन की एक द्वापर युगीन संध्या को देखते-देखते काली घटाएँ उमड़ आयीं। 'अन्हारी बारी' छा गयी। दिवस में अचानक अंधकार हो जाय तो भोजपुरी में 'अन्हारी बारी' कहते हैं। 'अन्हारी बारी' अर्थात् बालिका अंधकारपूर्ण यौवन-मत्त तमसा रात्रि नहीं जो दृष्टि का ही हरण कर लेती है, सारे दृश्यों का भक्षण कर लेती है और जो सर्वग्रासी कामना का प्रतीक है, बल्कि हल्का रहस्याच्छादित रूमानी कमसिन अँधेरा जो दिनान्त के अवसर पर दिगन्तव्यापी काली घटाओं के छा जाने से हो गया। दिशाएँ अचानक अपरिचित सी हो गयीं। तालवन-तमालवन और कदम्ब-खण्डी, कँटीली करील बनानी से ढँका हुआ उस पार का यमुना कछार, बीच का श्यामल प्रवाह सब-कुछ जो क्षण भर पहले जाना-पहचाना था, अचानक साँवला-साँवला और अपरिचित सा हो गया? बिजली कौंधने लगी। वेगगामी पवन नदीजल पर और तरुशिखा पर अपनी झकझोर लीला करने लगा। यह भाण्डीरवन दिवस के प्रकाश में अभी-अभी जो चिरपरिचित, बन्धु या सुहृद सखा जैसा था अनजाना-अनजाना सा लगने लगा। ऐसे परिवेश में नन्द बाबा इस बच्चे कृष्ण को सँभालें, कि इधर-उधर भागती हुई गौओं को इकट्ठा करें, अकेले छोड़ देने पर तो यह और डर जायेगा। यह बच्चा है। रात्रि से भय खाता है, तभी अचानक दिखाई पड़ती है चञ्चल किशोरी राधा। उसे नन्द पहले से ही पहचानते हैं। बरसाने की छोरी है। "आह, भला बेटी तू मिल गयी! यह कृष्ण अभी बच्चा है। अँधेरे से बड़ा डरता है। बेटी, इसे सँभाल! इसे घर पहुँचा दे!" कहते हुए नन्द राधा के हाथों कृष्ण को सौंप देते हैं। चतुर राधा उन्हें सघन श्यामल कुंजों के भीतर रहस्य ढँके पथ से ले जाती है। 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' आगे भी बहुत कुछ कहता है। पर उससे हमारा मतलब नहीं। हमारा तात्पर्य यहाँ मात्र यही है कि द्वापर-युग की उस संध्या में भाण्डीरवन में घटित हुई यह लीला ही सारे राधामाधव काव्य का उत्स या प्रस्थान-विन्दु है। इसी से अपनी बासन्ती लीला के मंगलश्लोक में जयदेव इसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घटना को व्यक्त करते हैं। यह घटना वैष्णवों की रस उपासना के संदर्भ में उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि जन्माष्टमी की अवतरण लीला। जयदेव का 'गीतगोविन्द', 'मान' और 'मानभंजन' का काव्य है। एक बात बड़ी अजीब लगती है कि पूरे 'गीतगोविन्द' में कहीं भी यह संकेत नहीं कि राधा परकीया नायिका है। निम्बार्काचार्य राधा-भाव के प्रथम उपासक थे और प्रथम आचार्य भी। उन्होंने भी राधा को स्वकीया ही माना है। उनकी शिष्य-परम्परा में ही माधवेन्द्र पुरी आते हैं। माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे ईश्वर पुरी। ईश्वर पुरी के शिष्य थे महाप्रभु चैतन्यदेव। परन्तु चैतन्यदेव की वैष्णव साधना में राधा को परकीया रूप में देखा गया। यह शायद पूर्वी भारत की लोकानुश्रुति (जिसका प्रभाव विद्यापति-चण्डीदास पर पड़ा था) और लोकसंस्कृति के दबाव का परिणाम था। नर्मदा नदी के तट पर चैतन्यदेव की रामानन्द राय से भेंट हुई। वहाँ पर 'राग' (प्रेम-धर्म) के बारे में महाप्रभु की जिज्ञासाओं का उत्तर रामानन्द राय देते हैं और अन्त में यह निष्कर्ष स्थापित करते हैं कि ईश्वरीय प्रेम का चरम रूप मानुषी प्रेम के परकीयाभाव की समाकृति है। बस इतनी ही बात है। इसका अर्थ यह नहीं कि महाप्रभु परकीया प्रेम का मानुषी संदर्भ में प्रतिपादन करते हैं। महाप्रभु रामानन्द राय से राग के इस महाभाव 'परकीया रति' के लिए शास्त्र-प्रमाण माँगते हैं तो रामानन्द राय का उत्तर है—'जयदेव गोस्वामी', परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में राधा को स्वकीया ही माना गया है और वे भी अपनी गुरु-परम्परा में जयदेव को बीच की कड़ी मानते हैं जो विष्णुस्वामी से प्रारम्भ होती है और श्रीमद्वल्लभाचार्य तक जाती है।

विष्णुस्वामी समारम्भा जयदेवादि मध्यगा
श्रीमद्वल्लभपर्यन्ता स्तु मो गुरु परम्पराम्।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' के अनेक पदों के साथ यथा "धीरसमीरेतटनी तीरे" या "पश्यति दिशि-दिशि रहसि भवन्तम्" या "देहिपदपल्लव मुदारम्" आदि के साथ दिव्यता और पवित्रता की किंवदन्तियाँ जुड़ी हैं। इसमें मान-लीला के भीतर प्रेमोन्मादन की ऐसी तीव्र पराकाष्ठा है जो परकीया भाव में ही उत्पन्न हो सकती है और राधा के स्वकीया चरित्र के भीतर ही वैसी परकीया जैसी तीव्र भाव-संवेदना शब्दों के आन्तरिक संगीत के माध्यम से भर दी गयी है जो परकीया में सामान्यतः प्राप्त होती हैं। इसी से शायद यह गलतफहमी हो गयी। तो भी अगले श्लोक में ही जयदेव इसके पढ़ने की शर्त भी रख देते—भक्तिप्लावित सरसमन और रसिक रुचि दोनों अनिवार्यतः जरूरी है। वाणी में जो लौकिक काम-रस है, उसे श्रीकृष्ण-संदर्भ में भक्तिप्लावित मन्न 'मधुर' रस बना देता है। कृष्ण-संदर्भ से बाहर यह अर्थ होना है। बिना वैष्णव मन के यह वाणी पाठक के लिए कुत्सित काक-तीर्थ बन जायेगी। वह विभ्रान्त हो जाता है। गीतगोविन्द के आधुनिक पाठक इसे एक काव्यग्रंथ के रूप में पढ़ना चाहते हैं और फल होता है भ्रान्ति। परन्तु जिस चिन्ता-पद्धति के परिवेश में यह रचा गया उसका संकेत तो मंगलश्लोक में ही निहित है और अगले श्लोक में इसी दृष्टि से चेतावनी भी दे दी गयी है। वैष्णव शास्त्र बार-बार कहते हैं कि द्वापर कालीन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'वनवृन्दावन' की यह घटना 'नित्यवृन्दावन' की एक छवि मात्र है और 'वनवृन्दावन' के बाहर इस परकीया भाव का अस्तित्व ही नहीं है।

वस्तुतः गौड़ीय वैष्णव मत की नींव या आधार संस्कृति में स्थानीय लोकधर्म सहजियामत या सहजयान का प्रभाव था। यह सहजयान बौद्धों के वज्रयान का लोक-संस्करण है। पर इनकी अपनी निजी शब्दावली है। कालान्तर में नित्यानन्द ने छोटी जातियों में प्रचलित सहजयानी समुदायों को वैष्णव धर्म में लिया। तथ्य तो यह है सहजयान में भी। यह परकीया प्रेम देह-साधना नहीं, भाव-साधना के रूप में स्वीकृत था। 'परकीया' संज्ञा नहीं 'विशेषण' है। 'परकीया प्रेम' का अर्थ है 'परकीया जैसा प्रेम'। यह सहजिया प्रेम की तुलना में तीव्रतर होता है। यह एक मानसिक साधना है। जिसके अन्दर सहजयानियों के अनुसार आठ क्रमिक विकास सोपान हैं— रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और महाराग। चैतन्य सम्प्रदाय में पूर्वराग, राग, अनुराग, महाराग या महाभाव की अवधारणाओं का मूलस्रोत परम्परागत सहजयानी चिन्तन में निहित है। गौड़ीय वैष्णवों की रस-साधना की शब्दावली में भी स्थानीय लोकधर्म और भंगिमाओं का प्रभाव हैं। कुछ शब्दों के अर्थ अनोखे हैं। एक शब्द है 'अभियोग'। इसका अर्थ होता है 'अभि' (विशेष) रूप में 'युक्त' कराना। अर्थात् किसी घटना या तथ्य से किसी को जोड़ना। हिन्दी में इसे मामले-मुकदमे के संदर्भ में प्रयुक्त करते हैं। पर बंगाली वैष्णव साहित्य में इसका प्रयोग प्रेमी द्वारा प्रेमिका (अथवा प्रेमिका द्वारा प्रेमी) को आकर्षित करने, फँसाने की युक्ति 'अभियोग' है। जैसे नायिका जा रही हो उसे दिखाकर किसी झुकी शाखा की टहनी को तोड़ लेना, या कच्चे-कोमल किसलय को उसे दिखाकर दाँतों से काट कर फेंक देना, या फूल या किसी शृंगार-वस्तु को उसे दिखाकर जल में प्रवाहित कर देना आदि। प्रत्येक क्षेत्र के वैष्णव धर्म में उसके लोकसाहित्य और लोकसंस्कृति की भाव-रूढ़ियों की एक अन्तर्धारा विद्यमान है। गौड़ीय वैष्णव धर्म के बारे में भी यही बात है। सहजयान के वैष्णव संस्करण में 'मदनकाम' की पूजा होती है। इसमें 'मदन' है राधा, और 'काम' है कृष्ण। काम माने 'इच्छा'। इच्छा तो कई तरह की हो सकती है। वात्सल्य या दास्य भी इच्छा के ही रूप हैं। पर काम (इच्छा) का वह रूप जो 'मदन' से जुड़ा है, सर्वोत्कृष्ट और सुन्दरतम रूप है और श्रेष्ठतम आनन्द का स्रोत है। राधाकृष्ण की सहजयानी उपासना को 'मदनकाम' देवता के रूप में करने का रहस्य यही है।

इस काव्य की ऐतिहासिक अधिष्ठान-भूमि पर विचार करने पर इसे युक्ति-संगत मानना पड़ता है। तत्कालीन पूर्वीभारत वज्रयान-सहजयान और तंत्राचार के प्रवाह में डूब रहा था। 'काम' जो जीवन के तेज और प्राण का स्रोत है गलित आत्मक्षयी सुरा बनकर समाज को विमत्त कर चुका था। अन्न देवता है, जीवन है, शक्तिस्रोत है। पर इसी अन्न को गलित करके हम सुरा और विष बना देते हैं। सेनवंशीय राजागण तथा सामान्य लोकजीवन काम-भुजंग से ग्रस्त हो चुके थे। सामाजिक संशोधन और परिष्कार न तो राजशक्ति के माध्यम से संभव था और न विद्या-शक्ति के माध्यम से।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान निरर्थक हो चुका था, क्रियाशक्ति पंगु थी। इन दोनों की मूल प्रेरकशक्ति इच्छाशक्ति कामज्वर से ग्रस्त होकर विकृत बन चुकी थी। रोग मूलतः मानसिक था। अतः उपचार भी मानसिक ही होना चाहिए। इसी परिवेश में वैष्णव प्रज्ञा ने भारतीय जीवन को छिन्नमूल और अस्वस्थ होने से बच निकलने का सूत्र निकाला। इच्छाशक्ति के रागात्मक उपचार का और काम-ग्रंथि को परिष्कृत करने का उपाय निकाला 'रस' के माध्यम से। कामबोध की रागात्मकता को महाभाव की ऊँचाई पर ले जाकर इसे दिव्य नारायणीयबोध में रूपान्तर करने का आह्वान जिन आचार्यों ने किया उनमें जयदेव सर्वप्रथम और प्रमुख थे। इसी से जयदेव के 'गीतगोविन्द' को काव्य से ऊपर शास्त्र की मर्यादा मिली। वैष्णवों का विश्वास है कि इस छोटे से काव्यग्रंथ के शब्दों का सम्मोहन हमारे भीतर स्थित 'अन्तर्यामी' तक ही सीमित नहीं रहता है, बल्कि इनसे 'विश्वात्मा' कृष्ण खिंचकर चले आते हैं और पीछे-पीछे अनुगमन करते हैं। केवल 'अन्तर्यामी' ही इससे प्रभावित होता तो यह एक मानसिक उपचार मात्र होता। यह परमात्मा तक को खींच लाता है। अतः यह प्रार्थना और उपासना भी है। जिन दिनों यह काव्य रचा गया सारा देश तमस में डूब रहा था। उपनिषद् कहते हैं—जब सूर्य अस्त हो जाय, चन्द्र अस्त हो जाय, अग्नि शान्त हो, वाणी सम्मोहित होकर स्तब्धता या प्रलाप बन जाय, तब बच निकलने का मार्ग है आत्मस्थ हो जाना, अपनी आत्मा पर स्थित हो जाना और आत्मा की ज्योति से अपनी रक्षा कर लेना। वैष्णवों ने आत्मा के सत्, चिद्, आनन्द के आयामों में, आनन्द पर अपनी 'रस'-साधना को प्रतिष्ठित किया। कामुकता की काल-रात्रि में उस चुनौती का यही एकमात्र सार्थक समाधान हो सकता था।

स्मर-चेतना की विकास-प्रक्रिया का एक अपूर्व सुन्दर चित्र यहाँ पर प्रस्तुत किया गया है। नवजातक कामबोध को उँगली पकड़ाकर भगवद्शक्ति 'ह्लादिनी' अंधकामना और लालसा की रात्रि के भीतर ('नक्तं भीरु अयं') चल रही है और वह आर्त्ति-तृषा-रति, इन तीनों मारकन्याओं के कुहक-इन्द्रजाल से सर्वथा सुरक्षित है, अवदमन, प्रलुब्धन (Seduction) और बलात्कार में पतित होने के भय से सर्वथा मुक्त है, राग-चेतना के पूर्णकमल की तरह प्रस्फुटन द्वारा उस स्मरचेतना की परिणति माधुर्य भाव में हो जायगी! तब वह आधुनिक मन की अवदमित वासना, आत्मरति अथवा उपरति बनकर आत्मक्षयी रूप नहीं ले सकता। प्रफुल्ल कमल की पूर्णतः विकसित इच्छाशक्ति पवित्र और सहज होकर जीवन के ज्ञानयोग को सरसता देगी और क्रियायोग को पुष्टि और तुष्टि। स्मरचेतना के उदात्तीकरण की बात आधुनिक मनोविज्ञान भी अपनी 'सेक्यूलर' भाषा में करता है परन्तु ईश्वर-तत्व को प्रारम्भ में ही निरस्त करके वह अपना 'श्रीगणेशाय नमः' ही गलत कर डालता है। अदिव्य और मात्र लौकिक की उँगली पकड़कर चलने पर वह चेतना आर्त्ति-रति और तृषा के गोपन खड्डों में फिसल ही जाती है। ऐसी उदात्तता अपने चरम रूप में भी मात्र जीवधर्म ही बन कर रह जाती है, वह जीवनव्यापी आत्मा का धर्म नहीं बन पाती। इसी से भगवान की ह्लादिनी शक्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का हस्तक्षेप आवश्यक है। भगवद् शक्ति के अनुप्रवेश से ही जीवन कभी भी सन्मार्गच्युत नहीं हो पाता। ह्लादिनी शक्ति स्मरचेतना को महाभाव में बदलकर उसे शील (चरित्र) में रूपान्तरित कर देती है। वैष्णवगण यह मानते हैं कि जीवन के मूल में है रागतत्व, और रागतत्व को ही वैदिक भाषा में 'काम' कहा गया है। 'काम' शब्द का आधुनिक अर्थ 'यौनसंवेग' तक ही सीमित हो गया है। परन्तु इसका पूर्णांग अर्थ व्यापक है। यह 'काम' ही है जो व्यक्ति को व्यक्ति से, व्यक्ति को परिवार और जगत से बाँधे हुए है। यह न रहे तो कुछ भी सुन्दर और स्वादिष्ट नहीं रहेगा और जीने में कोई स्वाद नहीं मिलेगा। हम सौन्दर्यबोध की क्षमता से हीन हो जायेंगे। आनन्दवृत्ति कुण्ठित हो जायगी। खीझ, क्रोध और अहंकार ही मन के स्थायी भाव हो जायेंगे। अतः काम एक व्यापक शब्द है, मात्र देह धर्म तक इसे सीमित रखना एक विकृति है। विडम्बना तो यह है कि इस विकृति को ही वैज्ञानिक प्रामाणिकता देकर, इसी को प्रकृत रूप मानकर, अपना आज का सारा जीवन-प्रपंच चला रहे हैं। आज मनुष्य-समाज का नेता पश्चिम है और वह अप्राकृतिक एवं असहज की सीमा तक 'सहज-प्रकृत' को आधुनिक चिन्तन की शब्दावली के बल पर खींच ले गया है। देह के भीतर ही 'सार आनन्द' चूस लेने की उत्कट कामना ने इस देह को एक (Commodity) बना दिया है। फल हुआ अनर्गल के भय से ग्रस्त और विकल विक्षुब्ध अहंकार को ही हम आत्मा मान बैठे हैं और उसी की तुष्टि में व्यष्टि और समष्टि के जीवन में नित्यप्रति नये-नये नरक रचते जा रहे हैं। एक विकलता दूसरी विकलता को जन्म देती है और दूसरी तीसरी को....। इस विकल विक्षुब्ध क्षमाहीन भागदौड़ का नाम ही आधुनिक मनुष्य की जययात्रा है। वैष्णवों में यह भ्रान्ति नहीं थी। उन्होंने 11वीं-12वीं शताब्दी में ही समस्या के मर्म को सही पहचाना था कि ज्ञान निरर्थक और द्विधाग्रस्त हो गया है, क्रियाशक्ति खण्डित, कुण्ठित और तेजहीन हो गयी है क्योंकि इनकी मूल प्रेरक इच्छाशक्ति ही विकल, विकलांग और विकृत है, और तत्कालीन परिवेश में जिस उपचार को उन्होंने नारायणीय रस-साधना के रूप में प्रस्तावित किया था वह उपचार आज के 'ब्यूटी इण्डस्ट्री' (Beauty Industry) तथा हिंसा-द्वेष आधारित राज-धर्म के युग में महत्वहीन नहीं है।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोकचित्त, हिंसा और साहित्यकार

जरा सोचो तो, ठंडे मन से क्षण भर सोचो।
तुम ही धरती के नमक हो।
धरती तुमसे ही लावण्यमयी बनती है।
पर यदि तुम ही अपना स्वाद-प्रकृति खो बैठे
तो तुम्हें फिर किसके द्वारा नमकीन किया जा सकेगा?

(बाइबिल)

इधर 10 वर्षों के बीच देश में सर्वांग परिवर्तन का तीव्र दौर चल रहा है। परन्तु जो कुछ नया-नया 'जायमान' है, या जन्म ले चुका है, वह सब-कुछ शुभ का आरोहण नहीं कहा जा सकता। आज 'धर्म' का स्थान 'राजनीति' ग्रहण कर चुकी है और यह राजनीति किसी प्रकार के नीतिबोध से सर्वथा शून्य है। आज अपने समाज में हिंसा के नये-नये रूप उदित हो रहे हैं। जीवन में हिंसा का इतना व्यापक सर्वमुखी अनुप्रवेश भारतीय इतिहास के किसी कालखण्ड में शायद ही हुआ हो। सम्पूर्ण लोक-चित्त ही समूह-चेतना का अंग-प्रत्यंग—क्या मूल्य, क्या आदर्श, क्या दैनिक जीवन, क्या भाषा, क्या शासन-प्रबन्ध, क्या यौन-सम्बन्ध—सब में हिंसा भिन्न-भिन्न विकराल और मोहक रूपों में उदित हो जनता का रुचिबोध, अपराध, उत्पीड़न रस और अश्लीलता को दैनिक रोटी-दाल की तरह ग्रहण कर रहा है। 'माया', 'मनोहर कहानियाँ', 'सत्यकथा' और फिल्मों तथा हिन्दी के महिमामय नामों द्वारा (विशेषत: साठोत्तरी में जन्मे नामों द्वारा) रचित साहित्य में तात्विक अन्तर समाप्त हो चुका है। रसरुचि, तथ्य, तथा संप्रेषण की दृष्टि से सभी एक ही हैं। ये एक नहीं तो मौसेरे भाई अवश्य हैं। उद्देश्य की बड़ी-बड़ी उद्घोषणाएँ इस प्रपंच को छिपा पाने में असमर्थ हैं। विशेषत: 'भाषा' हिंसा का सर्वाधिक शिकार बनाई गई है और अश्लीलता, फूहड़पन और विकृत रुचि को आधुनिकता, नया तेवर, नया बल, मानकर जबरदस्ती परोसा जा रहा है और अब हठ किया जा रहा है कि विश्वविद्यालयों से भक्ति-साहित्य जैसी 'फालतू' चीजें निकाल दी जायें और ये नयी और अनुपम उपलब्धियाँ उनके स्थान पर हिन्दी के कोर्स में रखी जायें। हिन्दी में यह सब विशेष रूप से चल रहा है। भारत में हिंदी-क्षेत्र ही अपराध और जरायम पेशे का सर्वाधिक सक्रिय भूखण्ड है, और आज हालत यह है कि इस भूखण्ड में धीरे-धीरे बुद्धिजीवी (विशिष्ट पत्रकार-अध्यापक), राजनीतिज्ञ और अपराधी, तीनों का एक गुट या 'फ्रंट' बन रहा है और तीनों का निशाना है, शेष भारत की अबोध-मूक-जनता। आज के साहित्यकार और उनके गुरु राजनीतिज्ञ (जिनसे जुड़े रहने को ही आज का आलोचनाशास्त्र 'प्रासंगिकता' और 'प्रतिबद्धता' कहता है।) आज जघन्य अपराधों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को भी चुनाव और वोट के 'द्वन्द्व-शास्त्र' के आधार पर मोहक, वरेण्य और करुणा, दया-ममता का पात्र बना रहे हैं। गत दो वर्षों में कई उदाहरण हमारे सामने आये हैं। बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ और अपराधी—तीनों का यह विचित्र गठबंधन हमारे अनागत का एक बड़ा ही अशुभ संकेत हैं। फ़लतः सामाजिक जीवन और साहित्य में कुछ भी ऋजु और सरल-निर्मल और पारदर्शक नहीं रह जायेगा। साहित्यकार लिखेगा और कुछ, पर उसका मतलब रहेगा और कुछ। इस कुटिलता को वह एक बौद्धिक गरिमा देकर उपस्थित करता रहेगा। उसका नीतिबोध और मानवताबोध राजनीतिज्ञ की कूटनीति का अंग मात्र रह जायेंगे। हिन्दी-प्रदेशों में कुछ स्वनामधन्य आलोचकों और प्राध्यापकों की कृपा से साहित्य और भाषा दोनों ही इस भयावह रास्ते पर पग दे चुके हैं।

ऐसे संदर्भ में जब लोक-चित्त हिंसामुखी हो उठा है, जब धीरे-धीरे हिन्दी-प्रदेश का नया मन यह मानने को उन्मुख हो रहा है कि चाहे साहित्य हो या राजनीति, जिसके पास उपद्रव-क्षमता है, एकमात्र वही वरेण्य है तथा सभ्य एवं शीलयुक्त, शान्त और सरल अब फालतू हैं। अब काठ की तलवार भाँजने वाला 'विद्रोही' ही महत्वपूर्ण है, चुपचाप रचनात्मक कार्य करने वाला या ड्यूटी के प्रति वफादार रहने वाला बेकार और व्यर्थ है, तो मुझे गाँधी-दृष्टि और मूल्यबोध का बार-बार स्मरण आता है। एक ओर ये भावना, रसबोध और रोमांटिकता का विरोध करते हैं, दूसरी ओर फूहड़ और हिंसामुखी (अब अपराधमुखी भी) के प्रति घोर रूमानी ललक को नयी पीढ़ी के सामने परोसते जा रहे हैं। फलतः नयी पीढ़ी अपने चार हजार वर्षव्यापी शील और रस के उत्तराधिकार से वंचित तो हो ही रही है, हिन्दी को उसके वृहत्तर उत्तरदायित्व और उसकी देशव्यापी वृहत्तर भूमिका से भी ये वंचित करने पर तुली है। ये दोनों बातें हमें चिन्तित करती हैं।

एक दफे की बात बताऊँ। मैं गुवाहाटी में असमिया भाषा के एक प्रतिष्ठित साहित्यकार के घर गया। मेरे हाथ में एक बहुचर्चित किताब थी 'संसद से सड़क तक'। ये सज्जन हिन्दी जानते हैं। उन्होंने इस पुस्तक को उलट-पुलट कर देखा। मैंने उन्हें बताया कि यह एक साहित्य एकाडेमी पुरस्कार प्राप्त रचना है। इसका अर्थ उन्होंने लगाया कि निश्चय ही यह महत्वपूर्ण तथा प्रतिनिधि रचना है। यों प्रतिनिधि रचना तो यह है ही, परन्तु यह उसी दृष्टिभंगी का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका मूल स्वर है 'शील का तिरस्कार और क्रोध का आवाहन'। उन्होंने इसकी कुछ पंक्तियों पर उँगली रखकर कहा, 'हमने हिन्दी को राष्ट्रभाषा इसलिए नहीं माना है कि तुम लोग बहुसंख्यक हो। बहुसंख्यक होने पर भी तुम 40 प्रतिशत से भी कम ही हो। तो भी हम अंग्रेजी की तुलना में हिन्दी को राष्ट्रभाषा इसलिए मंजूर करते हैं कि इसकी वही भूमिका होगी जो 19वीं शती से पूर्व संस्कृत की थी। अर्थात् तुम्हारी हिन्दी राष्ट्रीय 'शील' के उन संस्कारों की वाहक होगी, जो अंग्रेजी के द्वारा कदापि सम्भव नहीं। परन्तु तुम्हारी हिन्दी-भाषा में ऐसी संस्कारहीन पंक्तियाँ ही महत्वपूर्ण हो उठी हैं, तो उस हिन्दी को दूर से ही नमस्कार। फिल्मों द्वारा तो देश को संस्कारहीन बना ही रहे हो अब साहित्य के माध्यम से भी यही सब करोगे, तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

खुद डूबोगे और सारे देश की नाव को डुबा दोगे।'

बात उन्होंने बड़ी कटु कही थी परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा सत्य है। हिन्दी का उत्तरदायित्व अन्य भाषाओं की तुलना में बड़ा है। परन्तु जो वर्ग ऐसा साहित्य लिख रहा है और स्वनामधन्य आलोचकों की वाहवाही पा रहा है, वह वर्ग तो मानकर चलता है कि 'नयी नैतिकता' का अर्थ होता है शुद्धतः किसी प्रकार के नीतिबोध से मुक्त हो जाना। 'नये उत्तरदायित्व' का अर्थ होता है प्रतिबद्धता अर्थात् राजनीति (और राजनीति क्या है, कोई भी अखबार पढ़ने वाला जानता है) 'नाई-बारी-भांट' बन जाना, और जो यह नहीं मानता है वह अप्रासंगिक ही नहीं, फालतू है। यह सब कुछ एक बड़ी ही गहरी साजिश का अंग है। कुछ ऐसे तत्व हैं, जो हमें 'मूल्यहीन' 'जड़ से विच्छिन्न' (रूटलेस) कर देना चाहते हैं, और हमारी 'आत्मा' को चुराकर कहीं और गिरवी रख देना चाहते हैं। मैंने 'संसद से सड़क तक' पढ़ते हुए खुद अनुभव किया कि भाषा के स्तर पर एक ऐसी भी जगह है, जहाँ पर क्रोधाविष्ट 'धूमिल' और सैक्स-आविष्ट राजकमल चौधरी दोनों एक हैं।

यह आश्चर्य की बात नहीं कि धूमिल की इमेज (बिम्ब-विधान) का एक प्रधान अंश 'सेक्स' की कुरुचिपूर्ण आकृतियाँ हैं। और साथ ही यह आश्चर्य की बात नहीं कि धूमिल जब जिन्दा थे तो हिन्दी-आलोचकों के एक वर्ग विशेष ने कहा 'द्वितीय निराला' आ गये। जब वे बेचारे बीमार पड़े, तो उन्हीं लोगों ने कहना शुरू किया, धूमिल 'द्वितीय मुक्ति-बोध' हैं। जब वे मर गये तो उसी वर्ग ने नीर-क्षीर तिलांजलि देते हुए कहा, 'धूमिल राजकमल चौधरी के बराबर थे।' यह हिन्दी-आलोचना के 'नये शील' का एक नमूना है।

मैं राजनीति के कपटाचरण और हिंसा के इस प्रच्छन्न पोषण के खिलाफ हूँ। इसलिए आज मुझे गाँधी-स्मरण आते हैं। हिन्दी के नये साहित्यकार कहते फिर रहे हैं, 'देखो, देखो, मैं कितना महान्, मैं विद्रोही हूँ। मैं जोखिम उठा रहा हूँ।' लेकिन तथ्य तो यह है कि अपप्रचार और अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के फलस्वरूप उनका यह रास्ता बिल्कुल जोखिम या किसी भी खतरे से आक्रांत नहीं है। बल्कि तथ्य तो यह है कि आज यह प्रतिष्ठित होने का सर्वाधिक सुलभ 'शॉर्टकट' है। आज की हरेक राजनीतिक पार्टी जिस तरह गुण्डे पालने के सिद्धान्त में विश्वास करती है, वैसे ही साहित्यकार भी पालती है। ये आज व्यवस्था के सर्वाधिक स्थापित अंग के पालतू हैं। उसी की 'दीन-इलाही' को तरह-तरह दुहराकर, अन्त में 'भरतवाक्य' की तरह दो-चार गालियाँ भी उसे दे देते हैं।

आज वस्तुतः जोखिम वह उठा रहे हैं जो कहने की हिम्मत रखते हैं कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है व्यक्तिगत शील या व्यक्तिगत आचरण। परन्तु व्यक्तिगत 'शील' के सन्दर्भ में इन मसीहाओं को सोचने की फुर्सत नहीं। वे व्यक्तिगत 'शील' के गिरे मूल्यों को तिरस्कृत करना ही 'नयी प्रासंगिता' मानते हैं। वे समूह-शील की ही बातें करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसीलिए चोरी-डकैती, खून-हत्या सब-कुछ के पीछे राजनैतिक दर्शनों का उद्घाटन करते फिरते हैं। शासक दल और विरोधी दल, दोनों की अपनी-अपनी दृष्टि से 'स्थापित व्यवस्थाएँ' हैं। ये दिखावे के लिए विरोधी दल की व्यवस्था के अंग हैं। परन्तु दल चाहे शासकों का हो या विरोधियों का, सबकी महत्वाकांक्षायें, एषणाएँ और तकनीक एक ही हैं। सच्चाई आज की वोट-मुखी राजनीति के संदर्भ में अकेली पड़ गयी है और 'अनृत' ही दोनों पक्षों का हथियार है। ऐसी हालत में साहित्यकार से यह आशा की जाती है कि वह 'अनृत' का साथ छोड़कर अकेले चले और सत्य के साथ चले। पर इनका 'सत्य' पार्टी-प्रोग्राम के फार्मूलों से बँधा हुआ है। इनकी आत्मा पार्टी के यहाँ 'बंधक' है और गले की रस्सी को, जिसे ये प्रतिबद्धता कहते हैं, अपनी प्रतिष्ठा का सर्वाधिक सुलभ साधन बना चुके हैं। इनका दायित्व न तो सत्य के प्रति है और न देश की जनता के प्रति है। ये सिर्फ अपनी 'इमेज' बनाने के फेर में हैं।

आज कहीं देश में दंगा-फसाद होता है, कोई बवाल खड़ा होता है, तो ऊपर से राजनीतिज्ञ घड़ियाली आँसू बहाता है, मानवीय करुणा की भाषा बोलता है। रोष प्रकट करता है, पर भीतर ही भीतर अत्यन्त तृप्त और प्रसन्न होता है कि चलो अपनी 'इमेज' (तस्वीर) को ऊँची करने का और विरोधी को गिराने का अच्छा मौका मिला। राजनीतिज्ञ ऐसा सोचता है तो वह क्षम्य है, क्योंकि वह सनातन से पापजीवी है। पर तुम तो साहित्यकार हो, तुम तो पत्रकार हो, तुम देश की 'आँख' हो, 'शायरे रंगी-नवाँ दीदए कीनाए कौम'— तुम क्यों प्रतिबद्धता के नाम पर उसके ऊलजलूल को न्यायसंगत करने पर तुले हो? यह सही है कि कभी-कभी तुम उँगली भी उठाते हो। परन्तु वह भी राजनीति-प्रेरित होती है। तुम्हारे पास प्रेम है, करुणा है। परन्तु उसे जाति-निरपेक्ष, धर्म-निरपेक्ष, भाषा-निरपेक्ष, एवं सबसे बढ़कर पार्टी-निरपेक्ष शैली में वितरित करने में तुम असमर्थ क्यों हो? साहित्यकार क्या राजनीति की नग्नता को ढँकने का अण्डरवीयर या लंगोट-मात्र है? इससे बड़ी उसकी कोई भूमिका नहीं? इससे वृहत्तर भूमिका राजनीतिज्ञ तुम्हें नहीं देना चाहता। तो भी तुम राजनीतिज्ञ की इस महाकृपा को ही परम आशीर्वाद और चरम दायित्व कहकर क्यों प्रचारित कर रहे हो? क्या साहित्यकार का परम धर्म यही रह गया कि राजनीतिक दलों द्वारा पालित-अनुशासित होकर उनके द्वारा चलाये जा रहे अधिकार की लड़ाई का वह हथियार-मात्र बनकर रहे?

अतः क्रोध वही सार्थक और पवित्र है जो इस कपटाचरण से न जुड़ा हो और जो इस लोकचित्र में बढ़ती हुई हिंसा के बहुमुखी विस्तार का निषेध करे और यह बात तीन मूल्यों की ओर हमें ले जाती है। वे मूल्य हैं 'सत्य' (अपनी आत्मा द्वारा उपलब्ध 'सत्य'), 'सत्याग्रह' तथा 'अहिंसा', जिसके अन्दर प्रेम, सहानुभूति, करुणा, शील, सदाचार आदि सभी आ जाते हैं, क्योंकि दुराचारी कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता। यदि आत्मा द्वारा उपलब्ध सत्य 'बहुमत' के खिलाफ जाता है, तो साहित्यकार का धर्म है बहुमत के विरुद्ध खड़ा होना, अकेले खड़ा हो जाना, समूची ऐतिहासिक शक्तियों के विरुद्ध अकेली उठी हुई तर्जनी का रोष व्यक्त कर देना। यह 'बहुमत' है क्या? यह है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुतः प्रचार के साधनों द्वारा गढ़ा गया और पार्टी के एक मुट्ठी बुद्धिजीवियों द्वारा कल्पित मत। साहित्य के अन्दर शीलबोध की प्रतिष्ठा और बढ़ती हुई हिंसा का निषेध, आज हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-पत्रकारिता का सबसे बड़ा दायित्व है और ये दोनों बातें हमें गाँधी-चिन्तन और गाँधीवादी मूल्यबोध की ओर ले जाती है।

आज साहित्यकार की भाषा ही अश्लील हो उठी है। अपशब्द साहित्य का परमधर्म बनकर प्रगतिशील आलोचना-पीठ द्वारा सराहा जा रहा है। साहित्य आज संस्कार, सुरुचि, शील और परिमार्जन के दायित्वों से सर्वथा मुक्त होकर, केवल जिस दायित्व को लेकर खड़ा है, वह उत्तेजना का दायित्व है। साहित्य को भी 'उत्तेजक' होना चाहिए। उत्तेजना के चरम स्रोत काम और क्रोध दोनों को पूर्णतः नियोजित करने पर आज का साहित्यकार उतारू है। ऐसी हालत में निरीह जनता, माधुर्य से ओत-प्रोत जनता, सरल जनता अपनी चिर अर्जित सज्जनता को भूल कर अपराधमुखी हो जाय तो क्या आश्चर्य। बल्कि प्रगतिशील साहित्यकार तो यही चाहता है। हर तरह की गुण्डागर्दी अब निकट भविष्य में 'पोलिटिकल एक्टिविटी' की संज्ञा पा जायेगी, इसमें संदेह नहीं। राजनीति की ही तरह साहित्य में भी 'उपद्रव-क्षमता' (न्यूसेंस वैल्यू) ही चरम मूल्य और श्रेष्ठतम आदर्श बनकर शीघ्र ही प्रतिष्ठित होगी। हिंसा के इस बढ़ते व्यापक और बहुमुखी अनुप्रवेश के संदर्भ में शील-दृष्टि पर आधारित गाँधी-चिन्तन का मुझे बार-बार स्मरण होता है। यदि आज लड़ना ही साहित्यकार की नियति है, तो वह 'सत्याग्रह' के हथियार से लड़े, 'अपराधलिप्सा' या 'दुराचार' के हथियार से नहीं। हिंसा, अपराध, मानसिक विकृति और शीलमुक्त स्वच्छन्दता को हथियार बनाकर लड़ाई की तैयारी करने वाला साहित्य अब बन्द हो, अन्यथा देश रसातल में चला जायेगा।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधुनिक मनुष्य और प्राकृतिक परिवेश

जब मुझसे कोई यह सवाल करता है कि प्राकृतिक परिवेश के प्रति आधुनिक मनुष्य का क्या दायित्व है तो यह बात मेरे मन में एक अधिक मौलिक प्रश्न उठा देती है, "आधुनिक मनुष्य का अपने प्रति क्या दायित्व है?" प्रकृति हो, ईश्वर हो, दीन-दुनिया हो या देवता-पितर हों, सबके प्रति हमारे राग-विराग के मूल में है हमारा अपने प्रति प्रेम। याज्ञवल्क्य भी कह गये हैं "आत्मनस्तु कामाय सर्वे प्रियं भवति", वो भी मनुष्यत्व की ओर यात्रा की शुरुआत में ही, प्रकृति के आरण्यक क्रोड़ में बैठे-बैठे, तो मुझे लगता है कि मूल समस्या या उक्त प्रश्न की जड़ इस प्रश्न में है कि आधुनिक मनुष्य का अपने प्रति सही दायित्व क्या है? क्या आज उसे अपने सही दायित्व की पहचान है? उसकी अपने प्रति दायित्व की वर्तमान पहचान कहीं विमत्तता में उपलब्ध एक आत्म-भ्रांति तो नहीं है? वह तो एक 'खाऊ-उड़ाऊ पूत' की तरह हो गया है, गोया यह धरती, यह सर्व-प्रसविनी वसुन्धरा उसकी माँ, जननी न होकर ईश्वर द्वारा प्रदत्त मुफ्त का माल या नवासे की जायदाद हो, जितना ही जल्दी इसे खा-पी डालो, इसी में सार्थकता है। वह अनुभव नहीं कर पा रहा है कि कोयला, ईंधन, काठ, पेट्रोलियम आदि जड़ पदार्थ हैं। उनकी मात्रा चाहे जितनी बड़ी हो सीमित ही है और जड़ होने की वजह से उनके नाती-बेटे नहीं होंगे, उनका खानदान बढ़ता नहीं जायेगा और उनका वंश-उच्छेद एक दिन होकर ही रहेगा। उनका वर्तमान भण्डार आज चाहे जितना ही बड़ा क्यों न हो, आधुनिकअपव्यय चलता रहा तो एक-न-एक दिन खत्म ही हो जायेगा। हमारी पीढ़ी में नहीं तो दस पीढ़ी बाद ही सही। तब क्या होगा? तब कैसे चलेगा? इस प्रश्न का उत्तर वह उसी विमत्तता में देता है— 'क्यों? तब अणुशक्ति रहेगी हमारे पास। हम तो अणुयुग में प्रवेश कर चुके हैं।' परन्तु यह अणुशक्ति हस्तगत होना कितनी भयावह महिमा है, इसे सोच नहीं पाता। ई० एफ० शुभाकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी स्माल इज़ ब्यूटीफुल' में बताया है कि जिन राष्ट्रों के पास अणुशक्ति हो गयी है, आज उनके लिए एक विकट समस्या है कि इस शक्ति के प्रजनन की प्रक्रिया में पैदा हुए कचरे-कूड़े को कहाँ फेंकें। धरती पर रखने पर सारा वातावरण ही रेडियोधर्मी प्रदूषण से विषाक्त हो जायेगा। हल निकाला गया, दूर अटलांटिक समुद्र में फेंक दो। पर इधर सर्वेक्षण से पता चला है कि वहाँ का समुद्र-जल रेडियोधर्मी प्रदूषण से विषाक्त हो उठा है और जल एक चलायमान सत्ता है, अतः धीरे-धीरे यह प्रदूषण विश्व के अन्य समुद्रों में भी प्रवेश करेगा और समुद्र-से उठी वाष्प से बने मेघों में भी व्याप्त होगा तथा अंत में वर्षा-जल बनकर यह मृत्युबीज सारी धरती को प्रदूषित करेगा। तो यह महिमा बड़ी भयावह महिमा है और देवता ऐसी महिमा को आशीर्वाद नहीं दे सकते तथा सही विवेक इस महिमा का समर्थन नहीं कर सकता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य भयावह रूप से शक्ति के प्राकृतिक और सुरक्षापूर्ण स्रोतों का अपव्यय करता जा रहा है 'माले मुफ्त, दिले बेरहम' वाली शैली में। पर किसलिए? अपने 'सुख' के लिए? नहीं, 'अधिक उत्पादन' के लिए। उत्पादन के लिए उत्पादन, कम्पीटीशन, बाजार प्रतियोगिता, आदि बातें उसके लिए ज्यादा महत्वपूर्ण हो गयी हैं, वनिस्बत सुख के। सुख की तो वह पहचान ही भूल गया है। यहाँ तक कि अपने 'पिछड़े' हिन्दुस्तान में भी। जंगलात काटे जा रहे हैं लकड़ी के फर्नीचरों के लिए। किसी बड़े आदमी के घर में दुनिया भर की फिजूल की चीजें मौजूद हैं तो भी नयी डिजाइन के और फर्नीचर चाहिए। अतः फर्नीचर के 'उत्पादन-सुख' के लिए जंगल-पर-जंगल साफ किये जा रहे हैं। सरकारी अमला तंत्र को इसमें लाभ है, ठेकेदारों की चाँदी है, ये एक मुट्ठी लोग अपने संचय-सुख के लिए हिन्दुस्तान के सही सुख को काट फेंकने के लिए कटिबद्ध हैं। मकान बनाने की शैली भी ऐसी होने लगी है कि बाँस का उसमें स्थान नहीं रहा। इसकी आपूर्ति के लिए लकड़ी चाहिए। अतः जंगल काटो। भले ही इन जंगलों के कटने से देश की जलवायु में, मिट्टी में, घातक भौगोलिक परिवर्तन का सूत्रपात हो जाये, कोई परवाह नहीं। आने वाली पीढ़ी भोगेगी तो भोगे। हम तो अपने अधिक उपभोग यानी अधिक उत्पादन का सुख बरक़रार रखते हुए ही मरेंगे। सुन्दरलाल बहुगुणा चिल्लाते हैं, अरण्यरोदन करने दो। गाँधीवादियों की आदत हो गयी है, स्यार की तरह रास्ता काटना और अरण्य-रोदन करना। अफसरशाही और ठेकेदार शाही के अपने 'सुख' हैं और वे अपने 'सुख' भुनाकर रहेंगे क्योंकि 'वीरभोग्या वसुन्धरा।'

अतः मौलिक सवाल यह है कि आधुनिक मनुष्य का अपने प्रति दायित्व क्या है? वह इस प्रश्न को न तो ठीक से समझ पा रहा है और न इसके महत्व को हृदयंगम कर रहा है। यदि वह इस प्रश्न का सर्वाधिक सीधा और सस्ता उत्तर भी ग्रहण करे कि उसका अपने प्रति दायित्व है 'सुख'। तो वह सुख क्या है, यही वह ठीक से नहीं जानता। क्या वह सुख अधिक उत्पादन का सुख है? अधिक तामझाम और फर्नीचर का सुख है? नोटों की अधिक गड्डियों का सुख है? मेरी इन बातों को सुनकर आधुनिक मनुष्य का मुख्य-पात्र मेरी ओर कुछ चिढ़, कुछ आजिजी से देखेगा (और तब शायद उसका चेहरा आदिम पूर्वजों की यानी कुद्ध शाखामृग की शक्ल ले लेगा) और वह प्रति-प्रश्न करेगा, "यह सब सुख नहीं तो और क्या सुख है?" मैं उसकी भूल दिखा कर कहूँ कि सही सुख है देह-मन का स्वास्थ्य और पास-पड़ोस की स्वच्छता, प्रफुल्लता और सहजता, सही सुख़ आत्मिक बोध है, आत्मा के स्तर पर भोगा हुआ आनन्द है जो मानसिक दैहिक स्वास्थ्य से जुड़ा है, और जरा आगे पूछूँ, "क्या तुम्हारे देह-मन या तुम्हारी आत्मा को कोई निरुजता या आनन्द इस तामझाम एवं उत्पादन के आधिक्य से मिलता है? क्या अधिक उत्पादन की प्रतियोगिता में उत्पादन के मूल उद्देश्य 'मनुष्य' और 'सुख' खो नहीं जाते हैं? क्या मनुष्य की आत्मा इस अधिक उत्पादन की या अधिक सज्जा की घासपात में गाँठ से गिरकर खो नहीं गयी है?" तब शायद वह आधुनिक मनुष्य का प्रवक्ता मुझ पर तरस खाकर कहेगा,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"आत्मा? आत्मा-अस्मिता वगैरह सब बुद्धि की वाहियात 'लग्जरी' है।"

तो आधुनिक मनुष्य भीतर-भीतर इतना दरिद्र होता जा रहा है और ऊपर-ऊपर साज-सज्जा, 'वाह-वाह' के अहंकार से इतना समृद्ध कि वह यही समझ नहीं पा रहा है कि उसका अपने प्रति और अपने से जन्मे उत्तर पुरुषों के प्रति क्या दायित्व है? वह समझ नहीं पा रहा है कि देह का स्वास्थ्य, मन का स्वास्थ्य, आत्मा का स्वास्थ्य भी कुछ होता है। अवदमनों की आधुनिक संस्कृति में पलते हुए वह समझ नहीं पा रहा है कि पुरुष-नारी प्रेम मानसिक, आत्मिक स्वास्थ्य के लिए है, वह समझ नहीं पाता है कि महीने के चार दिनों को छोड़कर शेष छब्बीस दिनों के लिए नारी ईश्वरत्व को धारण करती है और उस ईश्वरत्व का एक ही उद्देश्य है, वह है सृजन। वह समझ नहीं पाता कि यह विपुला धरती, यह परमा प्रकृति, ये सखा-सहचर, पंच महाभूत उसे प्राण और जीवन देने के लिए उत्सुक हैं और यह नारी, यह धरती, उसके बलात्कार-व्यभिचार की पात्र नहीं, इन्हें तो प्रीति और अनुकम्पा के साथ भोगने के लिए ही उसे दिया गया है। इन सबके प्रति उसकी दृष्टि वैसी ही है जैसी कि शिशु-कथाओं में वर्णित सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी के प्रति उस लोलुप मुर्गीपालक की थी।

आधुनिक मनुष्य भीतर-भीतर दरिद्र होता जा रहा है। क्योंकि बाहर-बाहर वह अत्यधिक अवनार्मल रूप में 'सक्रिय' है। विराम, क्षमा, शान्ति, ध्यान-सुख, दस मिनट अकेले बैठकर अन्तर्मुखी होने का सुख, आत्मचिन्तन का सुख, एकान्तसेवन का सुख, ये सब उसे फालतू लगते हैं और इन्हें ग्रहण करने की उसकी क्षमता का ही लोप होता जा रहा है। संक्षेप में वह एक तरह से 'ग्रस्त' या बीमार है। उसके भीतर उसके छः रिपु बैठे हैं और वे रिपु उसकी वात-प्रकृति तथा पित्त-प्रकृति से निरन्तर व्यभिचार में लीन हैं। ऐसी हालत में प्राकृतिक परिवेश के प्रति उसका क्या दायित्व है? वह क्या समझेगा? यह तो दो ही बातें समझता है। एक है उसका प्रकृति-विजेता होने का अहंकार और दूसरी है उसकी असीम रमण-तृषा। चाहे वह धरती हो, नारी हो, प्रकृति हो या वह पास-पड़ोस का समाज हो जिसमें वह रहता है, सर्वत्र ही वह अलाउद्दीन खिलजी है। बलात्कारमुखी होना ही उसकी आधुनिकता है, उक्त चारों सत्ताओं के संदर्भ में। उसकी आँखों, उँगलियों और स्नायुमण्डल में निरंतर चीता-बाघ घूमते रहते हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि प्राकृतिक परिवेश के प्रति आधुनिक मनुष्य के दायित्व की बात मूल में मनुष्य की अपने 'स्व' के प्रति और मनुष्य जाति के प्रति दायित्व की बात है। फ्रायडीय मनोविज्ञान ने एक अर्द्धसत्य इसके दिमाग में बैठा दिया है कि पुरुष-नारी का एक ही आधारभूत रिश्ता है, वह है काम-भोग का यानी 'सेक्स' का। नारी मात्र प्रेमिका है। यों 'प्रेमिका' शब्द भी इस मनोविज्ञान के संदर्भ में अर्थहीन है। सही शब्द होगा 'भोग्या'। इसी पद्धति पर वह धरती और प्रकृति के बारे में भी सोचता है। अतः आधुनिक मनुष्य का नीतिशास्त्र बन गया है 'भोग', भोग, जबरदस्ती बलात्कार-पूर्वक भोग। "यही है उसका चरम और एक मात्र पुरुषार्थ। पर बात कितनी गलत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। इधर कुछ मनोवैज्ञानिकों ने उलटा हाथ भी लगाया है और उन्होंने अनेक पशुओं और चिड़ियों के व्यवहारों के अध्ययन के बाद एक सही निष्कर्ष सामने रखा है कि सृष्टि की मूल सहजवृत्ति 'सेक्स' नहीं, बल्कि 'मदर इन्सटिंक्ट' यानी 'वात्सल्य' है। हम प्रायः मादा पशुओं और पक्षी माताओं के व्यवहारों में देखते हैं कि 'मातृभाव' 'कामभाव' से अधिक स्थायी और गहरा है। अतः नारी भी मात्र प्रेमिका या 'भोग्या' नहीं मानी जा सकती है। 'माँ-प्रेमिका-पुत्री' ये तीनों रूप समान भाव से आधारभूत हैं। पत्नी या बहन या और रिश्ते स्थिति और पात्र के अनुसार, मन के स्तर पर इन्हीं तीनों में से एक का रूप ले लेते हैं। जैसे बहन को ही लें। यदि वह बड़ी है तो माँ जैसी संरक्षक की भूमिका ले लेती है, यदि वह छोटी है तो पुत्री जैसी स्नेह-पात्र और रक्षणीय होती है। 'अनुज बधू, भगिनी, सुत नारी। सुनु शठ कन्या सम ये चारी'॥ बड़ी सही उक्ति है। अतः नारी के मूल रूप तीन ही हैं। माँ, प्रेमिका और पुत्री। जो बात नारी के लिए है वही धरती और प्रकृति के लिए भी है। धरती तो खैर प्रकृति का अंग ही है।

तो प्रकृति मनुष्य की, चाहे वह आधुनिक हो या पुराना, सर्वदा माँ है, प्रेमिका (भोग्या और प्रणयिनी) भी है और पुत्री भी है, स्थिति-भेद के अनुसार। यानी प्रकृति और मनुष्य एक कुटुम्ब रचते हैं। यही है प्रकृति के प्रति सही दृष्टि। यदि इस सही दृष्टि को मंजूर कर लिया जाय तो प्राकृतिक परिवेश के साथ एक कुटुम्बगत रिश्ता हो जाता है जिसमें प्रकृति माँ की तरह श्रद्धास्पद है और उसका अंधाधुंध मुण्डपात करके नहीं, बल्कि ''माँ, भूख लगी है, कुछ खाने को दे'' की भंगिमा में उसका उपभोग अन्न, फल, काष्ठ, ईंधन आदि के रूप में किया जा सकता है, जिसमें वह पुष्प, लताओं, सुगंधियों और ऊषा-संध्या की मनोरम दृश्य-रचना के रूप में प्रेमिका प्रणयिनी है, और उसके सहयोग से हम 'कामलोक' से ऊपर उठकर 'सौन्दर्यलोक' में ऊर्ध्व संचरण कर सकते हैं और मन-आत्मा को स्वस्थ रख सकते हैं। तब हम अनुभव करेंगे कि उसे विरूपा या उत्कटरूपा करके 'बिना मोह-छोह' के आधुनिक रूप में भोगने की अपेक्षा यह सहज सुख कितना शान्त-स्वस्थ और मोहक है। तब हमारी समझ में आयेगा कि दरवाजे की वायु शुद्ध रखने वाली नीम को कटवाकर, दूसरी ओर ड्राइंगरूम में 'कैक्टस' सजाकर प्रकृति-प्रेम जताना कितनी बड़ी विडम्बना है। साथ ही प्राकृतिक परिवेश 'पुत्री'-रूप भी है। तुम मनुज हो, तुम सारी सृष्टि के रत्नमुकुट हो, तुम जेठे हो, प्रमुख हो, अतः यह देखना तुम्हारा कर्तव्य है कि आसपास की प्रकृति विरूप न हो, मृतप्राय न हो, उसका सही विकास हो। यही मनुज होने का दायित्व है।

सुनता हूँ कि प्राचीन काल में दण्डकवन में कोई अरजा कन्या थी जिसके साथ बलात्कार किया किसी राजा ने। फलतः वह देश ही शापग्रस्त हो गया। लताओं ने फूलना बन्द कर दिया। पेड़ों ने फल देने से इन्कार कर दिया। प्रकृति के हृदय में इस अप्राकृतिक भोग से घाव हो गया। आज रोज-रोज दण्डकवनों में असंख्य हरे कच्चे पेड़ ढहा दिये जाते हैं। कन्याकुमारी से उत्तराखण्ड तक अविराम चलती कुल्हाड़ी की 'ठक-ठक'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ध्वनि सुनी जा सकती है। कहीं पर 'अधिक उत्पादन' के नाम पर, कहीं पर 'प्रोजेक्ट' के नाम पर। कुछ वर्ष पहले समाचार मिला था कि कुछ अमेरिकी विशेषज्ञों के कहने पर सरकार चिड़ियों को मार डालने की दवा खेतों में छिड़कवाने वाली है क्योंकि वे खेती का बहुत नुकसान कर रही हैं। इस अनर्थ के विरोध में 'सरस्वती'-सम्पादक पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने एक कड़ी टिप्पणी भी लिखी थी। क्या यह सब अरजा के साथ बलात्कार से कम जघन्य है? केरल की 'मौन घाटी' (साइलेन्ट वैली) की एकांत चुप्पी को छिन्न-भिन्न करके तुम समृद्ध होना चाहते हो तो क्या इसे घर्षिता प्रकृति क्षमा करेगी और तुम्हारा जीवन दूसरे रूप में शापग्रस्त नहीं होगा?

परन्तु आधुनिक मनुष्य का आदर्श तो मानुष नहीं वन-मानुष है। वन-मानुष और मानुष के मूल प्रभेद को एक जीवशास्त्री ने यह बताया है कि वनमानुष 'शान्त' और 'स्थिर' रहने में असमर्थ होता है, वह निरन्तर सक्रिय, निरंतर कर्म-विकल रहता है, और इस डाल से उस डाल पर कूदते रहने में ही उसे सुख मिलता है, जबकि मानुष में 'शान्त', 'स्थिर' होने की, एकान्त या चुप्पी भोगने की मानसिक क्षमता है। छोटे शिशुओं में चंचलता भरपूर होती है। इसी से कहते हैं बन्दर और बच्चे एक होते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि इतनी लम्बी विरासत वाला, शताब्दियों के बौद्धिक-आत्मिक उत्तराधिकार का अधिकारी बीसवीं शती का परिपक्व बुद्धिमानव क्यों 'वनमानुष' का आदर्श ले बैठा है। शायद इसीलिए कि अपने प्रति, अपने सामाजिक परिवेश के प्रति, जो उसका सही दायित्व है वह भूल गया है। अहंकार और रमणतृषा से पीड़ित होकर। इसी से वह प्रकृति को, नारी को, धरती को, माँ-प्रेयसी-पुत्री के रूप में कुटुम्बवत ग्रहण कर सकने में असमर्थ है। यह उसकी प्रगति है, या उसकी ट्रेजडी है, इस प्रश्न का निर्णय वह कर नहीं पा रहा है।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य में सामाजिक चेतना और इतिहास-बोध

(राजनीति में सामाजिक चेतना केवल समकालीनता पर आश्रित रहती है, परन्तु साहित्य में यह सम्पूर्ण 'इतिहासबोध' पर और हम प्राय: भूल जाते हैं कि इतिहास का एक चौथा आयाम भी है—मानसिक-आत्मिक (Psycho-Spiritual) आयाम जिसको साहित्य 'व्यन्जना' के माध्यम से प्रस्तुत करके ही दीर्घजीवी बन पाता है। प्रस्तुत निबंध में साहित्य में सामाजिक-चेतना के प्रसंग में कुछ विचार इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये हैं।)

आज सामाजिक चेतना की बातें बहुत की जाती हैं। परन्तु आज समाज ही नहीं धर्म, संस्कृति, शिक्षा और साहित्य के सारे प्रश्न प्रकारान्तर से राजनीति के प्रश्न बना दिये गये हैं। अत: आज सामाजिक चेतना का अर्थ होता है राजनैतिक चेतना और वह भी मात्र अगले चुनाव की राजनैतिक चेतना जो एक सिद्धान्तविहीन व्यूह-रचना से अधिक नहीं है। राजनीति का स्वरूप आज धर्म से ज्यादा सर्वग्रासी हो गया है। यह मनुष्य की शेष संवेदनाओं का दमन करके उसे एक कट्टर सिद्धान्तवादी मन देती है जो भय, आतंक और हिंसा का भी वर्ग-स्वार्थ, जाति-स्वार्थ और सम्प्रदाय-स्वार्थ से अधिक कुछ भी अनुभूत करने में अक्षम रहता है। लोलुपता और भय पर आधारित यह राजनीति आज की पत्रकारिता और आज के साहित्य द्वारा विकास, क्रान्ति, पक्षधरता, प्रासंगिकता, जनवाद, राष्ट्रवाद आदि शब्दों के द्वारा मोहक बनाकर परोसी जा रही है। ऐसी स्थिति में साहित्य में सामाजिक चेतना के प्रश्न पर कुछ सोचने की गुंजाइश तभी बनती है जब राजनीति से हटकर इस पर विचार किया जाय। राजनीति से जोड़कर देखने पर तो यह कोई सोचने की समस्या ही नहीं है। तब तो साफ-साफ फार्मूला बना ही हुआ है कि जो हमारी राजनीति की बात करता है वही सामाजिक चेतना से युक्त है, शेष सभी या तो गलत हैं अथवा कुछ हैं ही नहीं। इस प्रकार प्रथम चरण में ही लाठी के जोर से प्रश्न का समाधान हो जाता है और बात खत्म हो जाती है। मैं यह नहीं कहता कि राजनीति की इस सर्वग्रासी प्रवृत्ति के सारे पक्षधर बुद्धिजीवी बेईमान हैं। मैं इतना ही कहता हूँ कि वे उस मन:स्थिति में पड़ गये हैं जो विश्वस्तर पर 20वीं शती के बहुत से बुद्धिजीवियों की बौद्धिक ट्रेजडी रही है और जिसे "बुद्धिजीवी का द्वितीय शैशव" (Second Childhood of the Intellectual) कहा गया है। चतुर्दिक अनर्गल, अन्याय और कपटाचरण से ऊबकर या थककर उन्होंने किसी उज्ज्वल उद्धार की आशा में पुरानी भक्तिमूलक शैली में किसी सिद्धान्त विशेष के प्रति प्रतिबद्धता ग्रहण कर ली है और दृष्टि तथा विवेक को तत्सम्बन्धी मठ एवं मठाधीश को अर्पित करके अपने इस द्वितीय शैशव में आश्वस्त हो गये हैं। परन्तु जो ऐसा नहीं कर पाते, जो अभी भी 'यथार्थ' और 'यथार्थवाद' में एक भेद रखते हैं, जिनके अन्दर अब भी आत्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की चिनगारी शेष है उनके लिए इनके पास या तो एक कुटिल अपेक्षा है अथवा आधुनिक फार्मूलों में ढले व्यंग्य विद्रूप तथा गाली-गलौज। वे अपने इस 'अनिर्वाच्य विश्राम' की स्थिति को ही 'जनहित में महान् जोखिम' घोषित करते हैं परन्तु सच्चाई तो यह है कि आज वे नहीं, बल्कि वह जोखिम उठा रहा है जो चालू हवा के प्रतिकूल खड़ा होकर कहता है कि मैं साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानता और सामाजिक चेतना का अर्थ मात्र राजनैतिक चेतना के चालू स्वरूप से ही है। अतएव मैं प्रस्ताव करता हूँ कि साहित्य में सामाजिक चेतना के प्रश्न पर आज की बहुप्रचारित शैली से हटकर खुले ढंग से विचार किया जाय।

पहली बात तो यह कि साहित्य को किसी कालखण्ड के समाज द्वारा ही सीमित नहीं किया जा सकता। समाज तो विकास की छन्दोबद्ध परम्परा पर गतिमान है। जिस दिन इसका सारा छन्द चुक जाता है वह अस्तित्वहीन हो जाता है। इसमें सर्वदा एक अंतर्निहित छन्द रहता है, भले ही ऊपर से यह छन्द पहचान में न आये। अतः समसामयिक समाज को साहित्य की कसौटी मानने की बात एक हद तक ही सही है। निरन्तर परिवर्तनशील (और साथ-ही-साथ कुछ अर्थों में स्थितिशील भी) रहने के कारण इसी समाज को हर बात की एकमात्र कसौटी मानकर नहीं चल सकते। 18वीं शती का हिन्दी रीतिकालीन साहित्य तथा अंग्रेजी के 'व्यंग' (Satire) साहित्य को आज हम पढ़ते हैं और रस लेते हैं तो उनमें व्यक्त सामाजिक चेतना के कारण नहीं, बल्कि शैली, भंगिमा एवं रस आदि निजी साहित्य-गुणों के कारण। टी० एस० ईलियट के 'वेस्ट लैण्ड' में जो समसामयिक सामाजिक चेतना है वह मनुष्य-जीवन की आत्मिक त्राहि और 'मूल-पाप' (original sin) की शाश्वत ग्लानि से जुड़कर ही तीव्र प्रभावी बनी है। तुलसी का मानस 16वीं शती की सामाजिक चेतना के कारण आज प्रभावी नहीं है बल्कि इसकी प्रभावक्षमता के मूल में मनुष्य की आन्तरिक तमस से मुक्त होने की या आन्तरिक त्राहि से रहित होने की कामना है। वस्तुतः समसामयिक सामाजिक चेतना जब 'कुछ और' से जुड़ती और उस 'कुछ और' में आत्मसात् होकर एक रासायनिक परिवर्तन पा जाती है तभी वह साहित्य की चेतना में अंगीभूत होती है अन्यथा नहीं। वह साहित्य की मूल धातु नहीं है, वह उसकी 'खाद' भर है। सोने में मजबूती लाने के लिए अलंकार बनाते समय चाँदी या ताँबे की 'खाद' दी जाती है। कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध साहित्य और सामाजिक चेतना में है। परन्तु हर हालत में यह सामाजिक चेतना समसामयिक समाज की ही हो यह जरूरी नहीं। समाज समसामयिकता के पूर्व और बाद में भी अस्तित्वमान रहता है। उसके कुछ मूल छन्द होते हैं जो हर कालखण्ड में 'यथार्थ' रहते हैं। वे मूल छन्द समसामयिकता से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। अतः हर स्थिति में, प्रत्यक्ष या परोक्ष, वे वर्तमान रहते हैं। वे मूल छन्द ही साहित्य को दीर्घजीवी करते हैं। उनकी पहचान और सर्जनात्मक स्वर ऊपर से समायोजित समसामयिक चेतना की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। उनकी पहचान ही इतिहास-बोध कही जाती है। साहित्य की मूल धातु तो साहित्यकार के निजी मन से आती है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और यह उसकी निजी प्रतिमा और निजी संवेदनक्षमता का दान है। साहित्य, व्यक्ति रचता है और इसकी अपील भी व्यक्ति-दर-व्यक्ति होती है। पढ़ने वाला पाठक भी एक व्यक्ति होता है। अतः मूल धातु की योनि तो रचनाकार का निजी मन ही है। ऐसा नहीं होता तो 15वीं एवं 16वीं शती का हर एक भक्त कवि सूर-तुलसी के समकक्ष होता और हमारे युग का हर एक बंगाली रवीन्द्रनाथ हो गया होता। आखिर तत्कालीन समाज तो सबके लिए एक ही था। अतः साहित्य का मूल-स्रोत रचनाकार का निजी 'प्राइवेट' मन ही है। तो भी यह सत्य है कि साहित्यकार की सिसृक्षा बिल्कुल स्वतन्त्र, 'त्रिशंकु' की तरह आकाशवृत्ति पर निर्भर रहकर कार्य नहीं करती है। निजी मन 'समूह-मन' के भीतर स्थिर होकर इतिहास और इतिहासबोध के साथ एक गहन पहचान उपलब्ध करता है तभी वह ऐसी परिपक्व साहित्य-दृष्टि को जन्म देता है जो दीर्घजीवी रचना दे सके। मात्र कैशोर्य उन्माद और हिंसक मानसिकता से क्षुब्ध मन से यह दृष्टि अर्जित नहीं हो पाती है। परम्परा से अन्ध लगाव से भी यह प्राप्त नहीं होती। यह पूर्ववर्ती परम्परा और समकालीन स्थिति दोनों के अरणी-मंथन से लब्ध होती है और इस उपलब्धि की मूल शर्त है 'सचेत संवेदनशीलता'। 'सचेत' शब्द पर मैं बल देकर कह रहा हूँ। परन्तु आज का आलोचक सामाजिक चेतना की बात को इस गहन-गम्भीर अर्थ में नहीं लेता है। वह तो इसे एक कुतर्क के रूप में किसी अन्य साहित्य को मार गिराने के लिए ही करता है और वह भी हकनाहक, 'आ बैल मुझे मार' की शैली में सींग रोप कर, केवल इसलिए कि वह साहित्यकार उसकी दलगत सिद्धान्तबाजी के तटस्थ रह रहा है। सम्भवतः यह उनका प्रगतिशील नाजीवाद है।

दूसरी बात यह है कि आजकल 'समाज', 'मास' (Mass), 'जन', 'समूह' आदि शब्दों का इस्तेमाल कुछ इस घालमेल के साथ हो रहा है कि पाठक के मन में वे एकार्थक जैसे हो गये हैं। हिन्दी में 'जनवादी साहित्य' का नारा चल रहा है। जिसमें एक प्रबुद्ध जनवादी आलोचक के ही शब्दों में न 'जन' है न 'साहित्य' है, हाँ 'वाद' का डण्डा जरूर है। दूध नहीं है, पर खूँटा-पगहा और डण्डा जरूर है और साहित्य के नाम पर इन्हीं की चर्चा हो रही है। 'प्रगति' शब्द की तरह 'जन' शब्द का भी कचूमर निकलकर रहेगा। इस जनवादी दृष्टि से समाज और जन या समसामयिक जन-प्रवाह में कोई भेद ही नहीं मालूम होता। जन-समूह एक छन्दहीन भीड़ मात्र है जिसमें अल्पकालीन छन्द का आवेश आ जाता है परन्तु 'समाज' एक ऐतिह्य में विकासमान छन्दोबद्ध संस्था है। जनसमूह क्षुद्र स्वार्थी या जाति, वर्ग या सम्प्रदाय पर, आश्रित अनुपातहीन आकांक्षाओं से एक अल्पकालीन छन्द प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसका कोई निजी और दीर्घकालीन छन्द नहीं होता। व्यवहार में राजनीति द्वारा प्ररोचित और संगठित भीड़ भर है। इसकी चेतना भीड़-चेतना होती है और यदि समाज के स्थायी छन्द से इसका कोई तारतम्य बैठता है तभी यह सामाजिक चेतना कही जा सकती है। अन्यथा यह चेतना समूह-कोलाहल मात्र है। इसके विपरीत समाज का अपना एक छन्द होता है जो उक्त समाज के कुछ आत्मिक और नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की चिनगारी शेष है उनके लिए इनके पास या तो एक कुटिल अपेक्षा है अथवा आधुनिक फार्मूलों में ढले व्यंग्य विद्रूप तथा गाली-गलौज। वे अपने इस 'अनिर्वाच्य विश्राम' की स्थिति को ही 'जनहित में महान् जोखिम' घोषित करते हैं परन्तु सच्चाई तो यह है कि आज वे नहीं, बल्कि वह जोखिम उठा रहा है जो चालू हवा के प्रतिकूल खड़ा होकर कहता है कि मैं साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानता और सामाजिक चेतना का अर्थ मात्र राजनैतिक चेतना के चालू स्वरूप से ही है। अतएव मैं प्रस्ताव करता हूँ कि साहित्य में सामाजिक चेतना के प्रश्न पर आज की बहुप्रचारित शैली से हटकर खुले ढंग से विचार किया जाय।

पहली बात तो यह कि साहित्य को किसी कालखण्ड के समाज द्वारा ही सीमित नहीं किया जा सकता। समाज तो विकास की छन्दोबद्ध परम्परा पर गतिमान है। जिस दिन इसका सारा छन्द चुक जाता है वह अस्तित्वहीन हो जाता है। इसमें सर्वदा एक अंतर्निहित छन्द रहता है, भले ही ऊपर से यह छन्द पहचान में न आये। अत: समसामयिक समाज को साहित्य की कसौटी मानने की बात एक हद तक ही सही है। निरन्तर परिवर्तनशील (और साथ-ही-साथ कुछ अर्थों में स्थितिशील भी) रहने के कारण इसी समाज को हर बात की एकमात्र कसौटी मानकर नहीं चल सकते। 18वीं शती का हिन्दी रीतिकालीन साहित्य तथा अंग्रेजी के 'व्यंग' (Satire) साहित्य को आज हम पढ़ते हैं और रस लेते हैं तो उनमें व्यक्त सामाजिक चेतना के कारण नहीं, बल्कि शैली, भंगिमा एवं रस आदि निजी साहित्य-गुणों के कारण। टी० एस० ईलियट के 'वेस्ट लैण्ड' में जो समसामयिक सामाजिक चेतना है वह मनुष्य-जीवन की आत्मिक त्राहि और 'मूल-पाप' (original sin) की शाश्वत ग्लानि से जुड़कर ही तीव्र प्रभावी बनी है। तुलसी का मानस 16वीं शती की सामाजिक चेतना के कारण आज प्रभावी नहीं है बल्कि इसकी प्रभावक्षमता के मूल में मनुष्य की आन्तरिक तमस से मुक्त होने की या आन्तरिक त्राहि से रहित होने की कामना है। वस्तुत: समसामयिक सामाजिक चेतना जब 'कुछ और' से जुड़ती और उस 'कुछ और' में आत्मसात् होकर एक रासायनिक परिवर्तन पा जाती है तभी वह साहित्य की चेतना में अंगीभूत होती है अन्यथा नहीं। वह साहित्य की मूल धातु नहीं है, वह उसकी 'खाद' भर है। सोने में मजबूती लाने के लिए अलंकार बनाते समय चाँदी या ताँबे की 'खाद' दी जाती है। कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध साहित्य और सामाजिक चेतना में है। परन्तु हर हालत में यह सामाजिक चेतना समसामयिक समाज की ही हो यह जरूरी नहीं। समाज समसामयिकता के पूर्व और बाद में भी अस्तित्वमान रहता है। उसके कुछ मूल छन्द होते हैं जो हर कालखण्ड में 'यथार्थ' रहते हैं। वे मूल छन्द समसामयिकता से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। अत: हर स्थिति में, प्रत्यक्ष या परोक्ष, वे वर्तमान रहते हैं। वे मूल छन्द ही साहित्य को दीर्घजीवी करते हैं। उनकी पहचान और सर्जनात्मक स्वर ऊपर से समायोजित समसामयिक चेतना की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। उनकी पहचान ही इतिहास-बोध कही जाती है। साहित्य की मूल धातु तो साहित्यकार के निजी मन से आती है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और यह उसकी निजी प्रतिमा और निजी संवेदनक्षमता का दान है। साहित्य, व्यक्ति रचता है और इसकी अपील भी व्यक्ति-दर-व्यक्ति होती है। पढ़ने वाला पाठक भी एक व्यक्ति होता है। अतः मूल धातु की योनि तो रचनाकार का निजी मन ही है। ऐसा नहीं होता तो 15वीं एवं 16वीं शती का हर एक भक्त कवि सूर-तुलसी के समकक्ष होता और हमारे युग का हर एक बंगाली रवीन्द्रनाथ हो गया होता। आखिर तत्कालीन समाज तो सबके लिए एक ही था। अतः साहित्य का मूल-स्रोत रचनाकार का निजी 'प्राइवेट' मन ही है। तो भी यह सत्य है कि साहित्यकार की सिसृक्षा बिल्कुल स्वतन्त्र, 'त्रिशंकु' की तरह आकाशवृत्ति पर निर्भर रहकर कार्य नहीं करती है। निजी मन 'समूह-मन' के भीतर स्थिर होकर इतिहास और इतिहासबोध के साथ एक गहन पहचान उपलब्ध करता है तभी वह ऐसी परिपक्व साहित्य-दृष्टि को जन्म देता है जो दीर्घजीवी रचना दे सके। मात्र कैशोर्य उन्माद और हिंसक मानसिकता से क्षुब्ध मन से यह दृष्टि अर्जित नहीं हो पाती है। परम्परा से अन्ध लगाव से भी यह प्राप्त नहीं होती। यह पूर्ववर्ती परम्परा और समकालीन स्थिति दोनों के अरणी-मंथन से लब्ध होती है और इस उपलब्धि की मूल शर्त है 'सचेत संवेदनशीलता'। 'सचेत' शब्द पर मैं बल देकर कह रहा हूँ। परन्तु आज का आलोचक सामाजिक चेतना की बात को इस गहन-गम्भीर अर्थ में नहीं लेता है। वह तो इसे एक कुतर्क के रूप में किसी अन्य साहित्य को मार गिराने के लिए ही करता है और वह भी हकनाहक, 'आ बैल मुझे मार' की शैली में सींग रोप कर, केवल इसलिए कि वह साहित्यकार उसकी दलगत सिद्धान्तबाजी के तटस्थ रह रहा है। सम्भवतः यह उनका प्रगतिशील नाजीवाद है।

दूसरी बात यह है कि आजकल 'समाज', 'मास' (Mass), 'जन', 'समूह' आदि शब्दों का इस्तेमाल कुछ इस घालमेल के साथ हो रहा है कि पाठक के मन में वे एकार्थक जैसे हो गये हैं। हिन्दी में 'जनवादी साहित्य' का नारा चल रहा है। जिसमें एक प्रबुद्ध जनवादी आलोचक के ही शब्दों में न 'जन' है न 'साहित्य' है, हाँ 'वाद' का डण्डा जरूर है। दूध नहीं है, पर खूँटा-पगहा और डण्डा जरूर है और साहित्य के नाम पर इन्हीं की चर्चा हो रही है। 'प्रगति' शब्द की तरह 'जन' शब्द का भी कचूमर निकलकर रहेगा। इस जनवादी दृष्टि से समाज और जन या समसामयिक जन-प्रवाह में कोई भेद ही नहीं मालूम होता। जन-समूह एक छन्दहीन भीड़ मात्र है जिसमें अल्पकालीन छन्द का आवेश आ जाता है परन्तु 'समाज' एक ऐतिह्य में विकासमान छन्दोबद्ध संस्था है। जनसमूह क्षुद्र स्वार्थी या जाति, वर्ग या सम्प्रदाय पर, आश्रित अनुपातहीन आकांक्षाओं से एक अल्पकालीन छन्द प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसका कोई निजी और दीर्घकालीन छन्द नहीं होता। व्यवहार में राजनीति द्वारा प्रेरोचित और संगठित भीड़ भर है। इसकी चेतना भीड़-चेतना होती है और यदि समाज के स्थायी छन्द से इसका कोई तारतम्य बैठता है तभी यह सामाजिक चेतना कही जा सकती है। अन्यथा यह चेतना समूह-कोलाहल मात्र है। इसके विपरीत समाज का अपना एक छन्द होता है जो उक्त समाज के कुछ आत्मिक और नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ये आत्मिक और नैतिक प्रमूल्य परम्परा या ऐतिह्य के पथ पर चलते हुए उस समाज को समय-समय पर लब्ध हुए हैं। इन प्रमूल्यों का विकास ही 'इतिहास-भूगोल-सातत्य' (History Geography Continuam) के मध्य हुआ है। भूगोल वस्तुतः इतिहास का चौथा आयाम वैसे ही है जैसे काल का चौथा आयाम देश है। दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रित अनिवार्य और अविच्छिन्न परम्परा है। निरन्तरता ही 'सातत्य' (Continuam) कही जाती है और इन प्रमूल्यों की तथा समाजगत छन्द की या छन्दों की बात ताक पर रखकर केवल 'समसामयिक समूह चेतना' को सामाजिक चेतना कहना साहित्य, कला और सर्जन के क्षेत्र में युक्तिहीन है। राजनीति के लिए ऐसा भले ही उपयोगी हो। राजनीति की अपील तो समूह से होती है। उसके क्षेत्र में यह बात चाहे जितनी भी ठीक क्यों न मानी जाय, साहित्य में हू-ब-हू वैसी ही स्वीकार नहीं की जा सकती। किसी संगठन या समूह के शुभाशुभ-निरपेक्ष स्वार्थों और अनुपातहीन आकांक्षाओं का आवेश तो राजनीति का मुख्य माल है, परन्तु साहित्य का वह 'कच्चा-माल' से ज्यादा नहीं। साहित्य उस कच्चे माल को समाज के शुभाशुभ और छन्द के अनुरूप शोधित करके ही प्रस्तुत कर सकता है और कभी-कभी प्रस्तुति में रूपान्तरण इस रूप में हो जाता है कि कच्चा माल की कोई पहचान नहीं रह जाती है।

साहित्य की सामाजिक चेतना में अतीत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों 'स्मृति', 'अनुभव-सत्य' तथा 'आकांक्षा' का रूप लेकर एक परस्पर सम्बद्ध 'त्रिक्' की तरह वर्तमान रहते हैं। साहित्य में वर्तमान का 'अनुभव-सत्य' वस्तुतः ऐतिह्य की स्मृति और भविष्य की आकांक्षा से जुड़कर ही महत्वपूर्ण समसामयिक चेतना बनता है और इसे ही साहित्य के भीतर सक्रिय सामाजिक चेतना भी कहा जाता है। यह एक शुद्धतः भाववादी और 'अति रूमानी' (Super romantic) नारा है कि हम 'नया मनुष्य' या 'नया हिन्दुस्तान' बनाने जा रहे हैं। यह सत्य का अपलाप है। क्योंकि स्मृति 'अनपायनी छाया' सी सर्वत्र साथ है और हमारी 'मति' (समझ) और 'धृति' (धारणा) का अंग बनकर हमारे अन्दर सर्वदा स्थित है। इसे आन्तरिक व्यक्तित्व का 'आपरेशन' करके निकालना सम्भव नहीं है। सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन होता है, उसका मनुष्य के मन पर अनुभव-सत्य के रूप में प्रभाव पड़ता है, परन्तु मनुष्य की मूल अन्तर्प्रकृति जिसकी संरचना के पीछे हजार-हजार वर्षों का ऐतिह्य है, बदली नहीं जा सकती। साहित्य का कारबार भाषा को लेकर है। स्मृति भाषा के शब्दों में गुँथी हुई है। वैसे तो मनुष्य मात्र के सोचने की वर्णमाला भाषा के शब्द ही होते हैं। ये शब्द हमारी 'जातीय स्मृति' जिसे मैंने अन्यत्र 'परमास्मृति' कहा है, से उपजे हैं और उसमें अंगीभूत होकर ही जीवित हैं। अतः मैं इस बात को रेखांकित करके कहना चाहता हूँ कि 'स्मृति, अनुभव-सत्य एवं आकांक्षा' इन तीनों का सम्मिलित रूप अर्थात् 'त्रिक्' ही सामाजिक चेतना बनाता है और वही साहित्य में उतारने की वस्तु होती है। अन्यथा साहित्य समसामयिक प्रचार या पत्रकारिता मात्र बनकर रह जायेगा। अवश्य ही समसामयिक सामाजिक चेतना अथवा तत्कालीन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'बहुप्रचलित या प्रभावी विचारों' (predominant opinions) को साहित्य अपनी बृहत्तर संरचना (डिजाइन) में भी अंगीभूत कर ले तो इसमें कोई हर्ज नहीं। परन्तु वह स्मृति, अनुभव-सत्य एवं आकांक्षा के 'त्रिक्' के साथ सम्मेल में उपस्थित किया जाये। इटली के तत्कालीन समाज और उसके बहुप्रचलित प्रभावी विचारों को दान्ते ने 'डिवाइन कामेडी' की वृहत्तर संरचना में अंगीभूत कर प्रस्तुत किया है, परन्तु वह सब तत्कालीन तथ्य उसका 'केन्द्रीय अभिप्राय' नहीं, बल्कि केन्द्रीय अभिप्राय का आलम्बन बनकर आया है जो कि एक भिन्नतर स्थायी भाव की रचना में मददगार मात्र है। रामचरितमानस के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में 17वीं सदी के जनमानस के कोलाहल या समसामयिक चेतना की प्रतिध्वनियाँ और अनुगूँज स्थापित की गई है। ये अनुगूँजें उसकी अभिव्यक्ति को मूल्यवान बनाती है, पर ये महाकाव्य की मुख्य ध्वनि नहीं है। इन्हें ही मुख्य ध्वनि मानने पर और इसके आधार पर ही तुलसी को महत्वपूर्ण मानने पर तुलसी भूषण से श्रेष्ठतर सिद्ध नहीं किये जा सकेंगे। तुलसी और दान्ते ने अपने-अपने महाकाव्यों में शताब्दियों की वेदना का निचोड़ या 'मधु' प्रस्तुत किया है। वे वेदनाएँ और भोगी हुई यंत्रणाएँ अपना नामरूप खोकर एक परिपक्व परन्तु भिन्न मुद्रा में आती हैं। अत: वे आज भी सत्य लगती हैं। वे मूलत: समकालीन चेतना की ही अनुगूँज हैं। परन्तु उन्हें एक सार्वभौम और शाश्वत मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है। समय-प्रवाह के भीतर समयातीत की स्थापना, भवति-प्रवाह के भीतर अस्ति के बीज की प्रतिष्ठा के बिना दीर्घजीवी साहित्य बन नहीं पाता है। महाभारत तो शुद्धत: भवति-प्रवाह की मानुषी गाथा है। परन्तु वेदव्यास बड़ी सावधानी से प्रत्येक स्तर पर अस्ति के बीज डालते हैं। फलत: वह हमारे यथार्थ जीवन का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य और सर्वश्रेष्ठ दर्शन बन गया है। इन रचनाओं में समसामयिक और समयातीत अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर समायोजित एक रचनात्मक सन्तुलन में उपस्थित हैं। फलत: इन महाकाव्यों में समसामयिक और समयातीत के द्वन्द्व से ऊपर उठकर समय की एक भिन्न ही, तीसरी मुद्रा उपस्थित है जिसे सक्षम पाठक का परिपक्व मन बड़ी आसानी से पकड़ लेता है। टी० एस० ईलियट का 'वेस्ट लैण्ड' तो स्पष्टत: समसामयिक 'चेतना की डाक्यूमेन्टरी' ही है, परन्तु उसमें समयातीत की लय निहित है और इसी से वर्तमान का अनुभव-सत्य उसमें महत्वपूर्ण संवेदना बनकर व्यक्त हो पाया है। लेखक या कवि द्वारा अर्जित ऐतिह्य के भीतर इतिहासबोध और कुछ नहीं, 'स्मृति, अनुभव-सत्य और आकांक्षा' की सही पहचान ही है। टी० एस० ईलियट ने कहा है कि कवि या साहित्यकार का त्रिशंकु 'व्यक्तित्व' नहीं रचता है, जो व्यक्ति सर्जन करता है वह परम्परा या ऐतिह्य में डूबकर इतिहासबोध प्राप्त करके लिखता है। यह बोध इतिहास में सामयिक की और समयातीत की तथा संयुक्त 'सामयिक-समयातीत' की, तीनों की पहचान से लब्ध होता है। जिस कवि या साहित्यकार के पास इनकी पहचान और पकड़ होती है वही परम्परा में अपनी शैली और कथ्य के लिए बल और ऊर्जा आहरण कर पाता है और उसी की रचना दीर्घजीवी होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्योंकि वह मूल-संश्लिष्ट है। सक्षम साहित्यकार का परिपक्व मन ही इतिहास अर्थात् परम्परा के भीतर समयातीत और सार्वभौम की लय को पहचान सकता है और उसे अपने कालखण्ड की लय के साथ समायोजित और संयुक्त कर सकता है। अभिव्यक्ति की भंगिमा आधुनिक रहती है, परन्तु उसके भीतर परम्परा की समयातीत लय बोलती है और अभिव्यक्ति को ऊर्जा तथा प्रामाणिकता देती है।

इस बात को जरा ठीक से पहचानना होगा कि अतीत के भीतर कौन सा अंश शाश्वत या समयातीत की लय बनता है और कौन सा जड़िमाग्रस्त और मृत अंश है। इसे पहचानने के लिए लेखक को गहराई से मूल-संश्लिष्ट (Rooted) होना होगा। बिना मूल-संश्लिष्ट हुए इसकी ठीक पहचान नहीं हो पायेगी। 'बाहरी' यानी आउट साइडर दृष्टि से, अजनबी-दृष्टि से यह पहचान लब्ध नहीं होगी। बाहरी या अजनबी बनकर समाज या व्यक्ति की आलोचना की जा सकती है, परन्तु पहचान नहीं बनायी जा सकती। किसी को सही-सही पहचानने के लिए उसके 'मर्म' में प्रवेश करना पड़ता है। किसी कालखण्ड के समाज की सामाजिक चेतना की सही उपलब्धि के लिए 'मर्म' में प्रवेश करना पहली शर्त है। तुलसी की सामाजिक चेतना यदि सच्ची नहीं होती तो वे समाज में इतनी बड़ी शक्ति के साथ प्रतिष्ठित नहीं होते। उन्होंने समाज के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आयामों में 'भीतरी आदमी' (Insider) की तरह प्रवेश किया, इतिहास के मर्म को पहचाना और परम्परा के समयातीत सप्राण अंश और समय-आश्रित जड़िमाग्रस्त अंश को सटीक भाव से पहचाना और तदनुसार अपने महाकाव्य का गठन किया। शबरी और निषाद-प्रसंग को विस्तार दिया। शम्बूक-प्रसंग और उत्तरचरित को निरस्त कर दिया। ये बातें बड़ी ही संकेतपूर्ण हैं। इतना मानते हुए कि भक्ति के संदर्भ में वर्णाश्रम जड़ीभूत और निरर्थक सिद्ध होता है उन्होंने भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा के प्रति विद्रोह नहीं किया। मुख्यधारा को उन्होंने 'रक्षासूत्र' की तरह महत्वपूर्ण माना। इस 'रक्षासूत्र' की आवश्यकता उन्होंने अपने गहनतर इतिहास-बोध के माध्यम से समझी थी। इस्लाम जैसी एक विजय-दीप्त और अत्यन्त कट्टर संस्कृति के टकराव के लिए समकक्ष समान दृढ़ता वाली अनुशासनबद्ध संस्कृति चाहिए थी। उदारमानववादी भूमि (जिस पर सन्त खड़े थे) आसानी से रौंदी जा सकती थी, जैसा कि पूर्व बंग और सिन्ध तथा सीमाप्रान्त के बौद्धधर्म से आविष्ट क्षेत्रों में हुआ था, और अपनी संस्कृति का निजीपन समाप्त हो जाता। अतः उन्होंने निजत्व की सुरक्षा संस्कृति की मुख्यधारा में ही देखा जो नखशिख भारतीयता के प्रतीकों और मुहावरों को लेकर चलती है। भारत-धर्म 'तद्ब्रह्म' या 'हिन्दुत्व' तो एक ही है जो 'अक्षर-ब्रह्म', 'अन्तर्यामी' आत्मा को व्यापक स्वीकृति देते हुए भी 'अनन्तोवैवेदाः' (वेद के रूप में अनन्त हैं) मानता है और इसी के दो बड़े संस्करण हैं; हिन्दूधर्म जो मात्र राष्ट्रीय, ऐतिहासिक, भौगोलिक परिवेश को देखकर व्यवस्थित किया गया है। (यहाँ तक कि द्वीपान्तर भारत के लिए भी इस राष्ट्रीय संस्करण के अन्तर्गत इसमें बहुत सी छूटें देकर ही इसे निर्यात किया गया)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरा है—बौद्धधर्म जो इसी 'भारतधर्म' का सामाजिक दृष्टि से उदार एवं मुक्त संस्करण है और इसका ही एक अन्तर्राष्ट्रीय रूप है। तुलसी की सोच इस राष्ट्रीय यथार्थ से घनिष्ठ भाव से जुड़ी थी परन्तु भूषण की तरह उनकी दृष्टि सतही नहीं थी। वे गहराई में उतर कर सारे तत्कालीन परिवेश को जाँचते हैं और विदेशी सेमेटिक संस्कृति के प्रति बाह्य प्रतिरोध की अपेक्षा जातीय अस्मिता के केन्द्र को ही, इसकी 'आत्मा' को ही 'विरज-विशुद्ध', स्वस्थ और सबल बनाने के लिए, जीवन के केन्द्र में पवित्रता, शीलबोध और श्रद्धा को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करते हैं। वे धर्म और प्रतिधर्म के द्वन्द्व को अपना मुख्य विषय न बनाकर धर्म के भीतर के आन्तरिक बिखराव को ही रोकने के लिए रामभक्ति पर दृढ़तापूर्वक खड़े हो जाते हैं। भक्ति आचरण-प्रधान धर्म है। नारायणीय धर्म ही आचार-प्रधान होता है। आन्तरिक बिखराव के प्रति वे सचेत हैं। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में इसके संकेत हैं परन्तु उनका बोध, मात्र 'बिखराव-बोध' से गहरा है। यदि वे आधुनिक रहते तो मात्र 'अबला कच भूषण भूरि क्षुधा।' 'नहिं मानत कोइ अनुजा तनुजा' या 'द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी' आदि अनुभव-खण्डों पर रोष-वर्षा करके रह जाते। वे इस बिखराव-बोध से भी गहरे जाते हैं जो उपचार-बोध के स्तर पर उतर कर काव्य-सरस्वती का आवाहन करते हैं। आधुनिक दृष्टि 'प्रश्न' और बिखराव को ही सही सामाजिक चेतना का मुख्य लक्षण मानती है। आधुनिक आलोचक आधुनिकता को केवल प्रश्नमुखी मानते हैं। समाधान और उपचार को आधुनिकता की प्रचलित परिभाषा से बाहर माना जाता है। इसी से उन्हें तुलसी पुराने और फालतू लगते हैं। परन्तु तुलसी के महाकाव्य में उपचार-बोध पर बल है, बिखराव की चेतना को पृष्ठभूमि में रखा गया है। जीवन का केन्द्र है मनुष्य की आत्मा, उस आत्मा से विच्छिन्न होने पर ही बिखराव घटित होने लगता है। क्योंकि उस स्थिति में जीवन के आत्मिक मूलाधार (Spiritual base) में टूटन और ध्वंस पैदा हो जाते हैं। तुलसी का काव्य इसी आत्मिक मूलाधार के सही उपचार का काव्य है और उन्होंने इतिहासबोध को ठीक से समझकर उस मूलाधार को ही सुदृढ़ और स्वस्थ करने की चेष्टा की और देश की हजार-हजार वर्षव्यापी भावधारा का मंथन करके उन्होंने पुरुषार्थ प्रधान 'शील-तत्व' को अपना विषय बनाया तथा इस विषय के प्रतिपादन का मुहावरा 'भक्ति' को बनाया। यही मुहावरा उस ऐतिहासिक परिवेश में चल सकता था। उनमें न केवल उत्तर मध्ययुग (मुस्लिम काल) की सामाजिक वेदना का ही बोध है बल्कि सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद से चालू होने वाले समग्र मध्यकाल की वेदना का बोध है और उस बोध से ही उनकी प्रज्ञा का निरन्तर सम्पर्क है। ठीक वैसे ही जैसे इटली के महाकवि दान्ते की 'डिवाइन कामेडी' में विगत दस शताब्दियों की आत्मिक वेदना मुखरित हो उठी है। तुलसी के काव्य के पीछे भी हजार वर्षों की आत्मिक वेदना है। वे इतिहास समय-आश्रित परिदृश्य के भीतर समयातीत की लय के अनुसंधान-पथ पर चलते हैं। उनसे सवा सौ वर्ष पूर्व स्वामी रामानन्द ने भी इस लय को पहचाना था और निर्गुण-निराकार उपासना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की उदार भूमि को संवेदनाहीनता और भाव-शून्यता के निराकरण के लिए उन्होंने 'राम' बीज उसमें डाला, जिससे निम्न जातियों में प्रचलित यह बिखरी हुई असंगठित भाव-साधना कहीं बह कर सेमेटिक संस्कृति के घाट न जा लगे। उन्होंने वही किया जो विलायती संस्कृति की बाढ़ रोकने के लिए 19वीं शती में राजा राममोहन राय ने किया था। आज के राजनीति-ग्रस्त युग में जब सामाजिक चेतना का अर्थ ही व्यवहार में राजनैतिक चेतना है, आधुनिक बुद्धिजीवी इस पर उत्पीड़ित हिन्दू जाति की दृष्टि से सोचने में असमर्थ है और अपनी हिन्दू-निरपेक्ष दृष्टि जिसे वह सेक्यूलर दृष्टि कहता फिरता है, इस 16वीं शती के सामाजिक परिदृश्य पर सही सामाजिक पीड़ा और सही सामाजिक चेतना का स्वरूप पहचानने में असमर्थ है। अत: यह बात उसकी समझ में नहीं आयेगी कि तुलसी द्वारा प्रस्तावित रक्षा-सूत्र का क्या सामाजिक महत्व है और विद्रोही वृत्ति किस सीमा तक आत्मघाती वृत्ति है। आज के शिक्षितवर्ग की बहुप्रचलित धारणाओं के आधार पर उस युग की मनोभूमि को समझना एक दुराग्रह के सिवा और कुछ नहीं। तुलसी गति, मुक्ति, भक्ति आदि की भाषा बोलते हुए भी (और यह भाषा ही उस युग में बोधगम्य थी) परिचित देशी मुहावरों में जो बात कह रहा है उसका उद्देश्य मनुष्य-जीवन की आन्तरिक पवित्रता, निरुजता और स्वास्थ्य ही है और यह भीतर के आन्तरिक बिखराव का रामभक्ति के माध्यम से पुनर्नियोजन और पुनर्ग्रन्थन है। अत: इसे शुद्ध अभिधात्मक स्तर पर लेना भूल है। 'मानस' के अन्तिम वाक्य में 'स्वान्तस्तम: शान्तये' में 'स्व' तथा 'अन्तर की तमसा' का व्यक्तिनिष्ठ और समष्टिनिष्ठ 'मर्म' सटीक ढंग से पहचानने पर ही तुलसी की सामाजिक चेतना का स्वरूप समझा जा सकता है।

दान्ते की 'डिवाइन कामेडी' के प्रथम दो खण्डों, 'नरक' और 'वैतरणी-भूमि' (परगेटरी) को ही आज ज्यादा महत्व दिया जाता है और इनमें दान्ते की सामाजिक और राजनैतिक चेतना प्रखर रूप से व्यक्त हुई है। परन्तु आज पश्चिम के सारे आलोचक एकमत हैं कि इन्हें अभिधागत सतही रूप में लेना दान्ते को गलत समझना है। दान्ते के लिए भी यह अभिधात्मक नरक का प्राथमिक महत्व नहीं था। प्राथमिक महत्व था नरक के लाक्षणिक अर्थ का। उसका रूपक बड़ा ही स्पष्ट है। ईश्वर-बोध की अनुपस्थिति ही ईसाई दृष्टि से 'नरक' है। दान्ते इसी श्रुति-तत्व को प्रस्तुत कर रहा है और श्रुति, लक्षणावती होती है चाहे वह हिन्दू श्रुति हो या ईसाई श्रुति। वह रूपक की भाषा में गहरे सार्वभौम और शाश्वत तथ्यों का प्रतिपादन करती है। उदाहरण के लिए 'पाप' की परिभाषा को लें। इसकी रूपकों में अभिव्यक्ति की गयी है। पुराना पाठक पाप को ईश्वर-रहित जीवन वृत्ति मानता था, तो नया पाठक पाप की नयी परिभाषा अवचेतन की दलित वासना के शास्त्र के मध्य ढूँढ़ता है अथवा आधुनिक अस्तित्ववाद द्वारा प्रत्यक्ष की गयी भय-हताशा और अनर्गल (Terror, Despair & Absurd) के मध्य लब्ध करता है। आज की धरती पर ही 'अकेलापन' और 'अनर्गल' का नरक उतर आया है, ऐसा ही उसे 'डिवाइन कामेडी' पढ़ने पर लग सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः दान्ते आज भी ताजा और नया है। क्योंकि दान्ते समसामयिक सामाजिक चेतना के भीतर समयातीत श्रुति-तत्व का बीज स्थापित करता गया है। इसी से 20वीं शती में भी दान्ते का नरक मुखर है और प्रासंगिक है। कुछ ऐसी ही बात रामायण-महाभारत (महाभारत में तो बड़े स्पष्ट ढंग से) और श्रीमद्भागवत तथा 'रामचरितमानस' के बारे में भी है। रामकथा की थीम तो जो 'रामायण' में है, वही रामचरितमानस में भी है परन्तु इतिहास-बोध में प्रभेद रहने से अभिव्यक्ति की दिशा में परिवर्तन आ गया है। वाल्मीकि की रामायण धर्म-अधर्म या शुभ-अशुभ का द्वन्द्व नहीं है। यह धर्म और प्रतिधर्म का द्वन्द्व है। वह आत्मवादी आश्रम-संस्कृति की ब्राह्मी श्री के साथ अनात्मवादी आसुरी श्री का द्वन्द्व है, वह न्यायप्रधान संस्कृति से भोगप्रधान संस्कृति का संघर्ष है, वह फलमूल अशन और वल्कन वसन वाली तेजोदीप्त संस्कृति के साथ सोने-चाँदी से अलंकृत भोगासक्त विमूढ़ संस्कृति का द्वन्द्व है, वह पुरुषोत्तम पुरुष के साथ अधिपुरुष या अधिनायक पुरुष का द्वन्द्व है, वह इन्द्र के आत्मवाद के साथ वैरोचन के देहवाद का द्वन्द्व है। अरण्यकाण्ड के आश्रममण्डलों के पवित्र, तेजस्वी रूप से सुन्दरकाण्ड की भोग, समृद्ध एवं बुद्धिदीप्त लंका की तुलना से यह द्वन्द्व स्पष्ट हो जाता है। लंका उस संस्कृति की प्रतीक है जिसमें रोटी-कपड़ा-मकान और सेक्स ये ही चार परम पुरुषार्थ हैं। ऋषियों के आश्रममण्डल उस संस्कृति के प्रतीक हैं जिसमें अर्थ-धर्म-काम और मोक्ष ये चार परम पुरुषार्थ माने गये हैं। सुन्दरकाण्ड पढ़ते समय किसी भी पाठक को आधुनिक अमेरिका का जिसे 'समृद्धि का नरक' और 'यौन सुख का स्वर्ग' कहा जाता है, स्मरण हो आता है। परन्तु तुलसी ने अपने 'मानस' में इस द्वन्द्व को नारायण-प्रतिनारायण के बीच घटित टकराव को उल्लेखित करते हुए भी इसे द्वितीय श्रेणी का महत्व दिया है। 'एहि लागि तुलसीदास इनकी कथा संक्षेपहि कही।' उनकी समस्या भिन्न थी। इस देश में 'प्रतिधर्म' की भूमिका में था मुगल शासन। उससे टकराव की क्षमता भारतीय जनता में नहीं रह गयी थी। अतः उस द्वन्द्व को उभाड़ने में तुलसी ने कोई सार्थकता नहीं देखी। उन्होंने तत्कालीन मनुष्य या तत्कालीन भारतीय जीवन के आन्तरिक बिखराव को ही रोकने और केन्द्रच्युत होने से बचाने में साहित्य की सार्थक भूमिका देखी। अन्तर की तमसा से आच्छन्न मनुष्य के आन्तरिक विघटन को रोक कर उसकी आत्मा को निरुज और स्वस्थ तथा उसके 'स्व' के केन्द्र पर उसे प्रतिष्ठित करो जिससे वह ग्लानि और हताशा के कारण प्रतिधर्म के प्रति आत्मसमर्पण न कर दे और घाट से बेघाट न जा लगे। भक्तों और सन्तों ने युगानुरूप अपने इसी दायित्व को महत्व दिया। निर्गुण-निराधार 'राम' के सहारे सन्तों ने तथा सगुण-साकार पद्धति के सहारे भक्तों ने मनुष्य के विघटित होते हुए आत्मविश्वास और आत्म-क्षय को रोकने का दायित्व अपने सर ले लिया। बाह्य क्षयिष्णुता के सामाजिक रूप उस आन्तरिक क्षय के उपलक्षण मात्र थे। भक्त और सन्त दोनों के प्रति सचेत थे और दोनों की अभिव्यक्ति में बाह्य और आन्तरिक क्षय तथा विघटन के संकेत हैं। दोनों की उपचार-पद्धति में प्रभेद था। अतः शब्दावली और भंगिमा में कुछ भेद आ गया है पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह पद्धति-भेद के कारण है, लक्ष्य तो एक ही है। वह है भारतीय जीवन में जो छन्दहीनता आ गयी है, उसके छन्द-पतन को रोकना आवश्यक है और यह संभव है पुनः उस छन्द को आत्मा के केन्द्र पर प्रतिष्ठित करना, पर उस आत्मा के केन्द्र की पहचान क्या है? उन्होंने परम्परागत ऐतिह्य के मध्य ढूँढ़कर उसे 'घट-घट-व्यापी राम' के रूप में पहचाना। 'राम' पर अपने को केन्द्रित कर दो, 'अन्तर्यामी' पर अपने को प्रतिष्ठित कर दो, रक्षा अपने आप हो जायेगी। क्योंकि अन्तर्यामी की ज्योति और बल तो अविनाशी है। इसी को उपनिषद् कहते हैं—जब सूर्य अस्त हो जाय, चन्द्र असत् हो जाय, अग्नि शान्त हो जाय, वाणी स्तब्ध या सम्मोहित हो जाय तो हताशा और बिखराव की घनघोर तमसा में पुरुष के बच निकलने का रास्ता आत्मा की ज्योति ही रह जाती है। वह अविनाशी आत्मज्योति के सहारे 'मृत्यु' को पार कर 'अमृत' का वरण कर लेता है। 'आत्मा' अन्तर्यामी अथवा 'घट-घट-व्यापी राम' का ही दूसरा नाम है। यह तो इस देश का अनपढ़ भी जानता है और यह भी उन भक्तों और संतों की ही कृपा है। एक शास्त्र के सहारे चला, दूसरा अनुभव के सहारे 'अनभै साँचा' (अनुभव-सत्य के सहारे)। पर लक्ष्य एक था और उपलब्धि एक थी। आज की 'हिन्दू बनाम मुस्लिम' राजनैतिक समस्या पर आधारित सेक्यूलर राजनीति की भाषा में सोचने वाले कांग्रेसी, वामपंथी और दलित नेता, भक्तों और सन्तों की गम्भीर गहन सामाजिक चेतना को अपने निजी राजनैतिक लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर बनायी गयी कसौटी पर परखते हैं। फलतः वे पूरी प्रक्रिया के मर्म को समझते हुए भी न समझने का पाखण्ड करते हैं। क्योंकि उन्हें तो किसी तरह खींच-खाँच कर 'वाद-प्रतिवाद' स्थापित करना है, जिससे आज की राजनीति चालू रहे। भक्त और सन्त के बीच 'द्वन्द्व' नहीं है, 'रचनात्मक सामंजस्य' है। इसी बात को आज के जनवादियों के गुरुदेव इस प्रकार कहते हैं—कबीर का साहित्य योग की भूमि पर भक्ति की लता का आरोपण है।' यही उनके बोध का सार है। किसी भी तटस्थ समालोचक को जो अपने को राजनीति का अनुचर नहीं मानता यही बात सही लगेगी। हर एक सगुणवादी भक्त 'निर्गुण-राम' को लीलापुरुष 'सगुण-राम' का 'चौथा आयाम' मानकर अत्यन्त स्पष्ट स्वीकृति देता है और हरेक निर्गुणवादी संत 'सगुण-निर्गुण-सातत्य' में 'राम' को पहचानता है। 'चौथा आयाम' और 'सातत्य' आधुनिक भौतिक विज्ञान के शब्द हैं जो काफी दूर तक इस सन्दर्भ में उपयोगी हैं। जैसे देश के बिना 'काल' की कल्पना या बोध सम्भव नहीं, काल का जो बोध हम प्राप्त करते हैं वह वस्तुतः 'देश-काल सातत्य' (Space-Time Continuam) का बोध है। उसी तरह बिना 'सगुण-निर्गुण सातत्य' की स्थिति के 'निर्गुण' के प्रति प्रेमाभक्ति की बात ही कल्पनातीत और बोध से परे है। सम्पूर्ण निर्गुण भक्ति, इसी 'सगुण-निर्गुण-सातत्य' की मनोभूमि में लब्ध और अभिव्यक्त होती है। सगुण और निर्गुण दोनों ही दोनों में ओतप्रोत है 'शब्द' और 'स्मृति' की तरह। 'शब्द' और 'स्मृति' के मेल से अर्थ बनता है। शब्द और अर्थ से परे का बोध तो 'मनवाणी की अगम-अगोचर' समाधि-भाषा है। वह साहित्य भाषा के क्षेत्र से बाहर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की बात है। यह उद्बोधन की भाषा नहीं। सन्त और भक्त दोनों ने उद्बोधन का दायित्व अंगीकार किया था, व्यक्तिगत 'मोक्ष' का नहीं। सन्त और भक्त दोनों समाजमुखी थे। सन्त को भक्त के 'प्रतिवाद' (Anti thesis) के रूप में देखना एक अत्यन्त भ्रान्त सरलीकरण है। वे वस्तुतः एक 'रचनात्मक सामंजस्य' (Creative Balance) में 'युग्म' की तरह स्थित हैं। 'राम का चौथा आयाम' 'निर्गुण-राम' सन्तों के आगमन के पूर्व ही 'राम तापनी उपनिषद', 'सीतोपनिषद', 'अगस्त्य संहिता' (राम-पटल) आदि में, आगमशास्त्र में प्रतिष्ठित हो चुका था। 'राम' के इस चौथे आयाम से स्वामी रामानन्दाचार्य परिचित थे। सन्तों की कृपा से 'भाषा' द्वारा जनमानस में रामतत्व के इस चौथे आयाम को प्रतिष्ठा मिली और जनसामान्य के मन में बात भाषा द्वारा बैठायी गयी कि 'राम' माने 'अन्तर्यामी' और 'अक्षर ब्रह्म'। सन्त साहित्य इसी आगम परम्परा का संवाहक है और वह भक्ति का अविरोधी है। सामान्य भारतीय गृहस्थ आज तक दोनों को अविरोधी मानकर समान रूप से सम्मानित करता रहा है। राजनीति इन्हें अपनी 'खरशाण' पर चढ़ाकर बेडौल कर रही है। परन्तु भारतीय सिसृक्षा सदैव निगमागम को संयुक्त भूमि मानकर चलती है और लोक-वेद के सामंजस्य से जीवन को व्यवस्थित करती रही है।

मैंने अपनी पुस्तक 'दृष्टिअभिसार' के अन्तिम निबन्ध में साहित्य-सिसृक्षा की चर्चा करते हुए लेखक या साहित्यकार के मन की 'समकेन्द्रिक' पंचवृत्तीय सत्ता की बात की है। लेखक का 'निजी मन' तो केन्द्र में है। यह 'निजी मन' (प्राइवेट माइण्ड) घिरा हुआ है 'समूह मन' के वृत्त में। समूह मन घिरा है भूगोल-इतिहास और शाश्वत काल (समयातीत) के वृत्तों से। अर्थात् शाश्वत काल या समयातीत के भीतर इतिहास (समय-आश्रित वृत्त) और भूगोल है। इनके भीतर है समूह या समाज, समाज के भीतर है निजी मन। सत्ता या अस्तित्व के ये एक दूसरे के भीतर अवस्थित पाँच वृत्त हैं जिनका केन्द्र एक ही है और वह है लेखक के निजी मन का केन्द्र, उसकी आत्मा या उसका स्वयं। मानुषी अस्तित्व की प्रकृति ऐसी है कि बोध या चेतना का केन्द्र तो लेखक के निजी मन में है परन्तु वह चेतना इन पाँचों वृत्तों से ओतप्रोत मानस-प्रवाह है और किसी बोध की आकृति-प्रकृति में शाश्वतकाल, समयआश्रित काल (इतिहास), भूगोल, समाज (समूह) और निजी व्यक्तित्व इन सबका प्रभाव काम करता है। विषय की प्रकृति और व्यक्तित्व के स्वभाव के कारण इन प्रभावों के भीतर अंशात्मक भेद अवश्य आ जाता है परन्तु सचेत या अचेत भाव से संवेदनशील लेखक इन पाँचों से जुड़ा है। सामाजिक चेतना या समूह-चेतना को सरलीकृत सपाट परिभाषाओं से सर्जन-प्रक्रिया को नहीं समझा जा सकता। कोई भी सफल भारतीय लेखक ऊपर से अपने को अनीश्वरवादी, नास्तिक आदि घोषित करता रहे, यदि उसकी रचना लोकमानस में अपनी सिसृक्षा को मग्न करके उपलब्ध हुई है तो वह इन पाँचों के प्रभाव-क्षेत्र के भीतर आ ही जाता है। भारतीय लोकमानस और समूह मन तथा उससे उद्भूत भाषा और शब्दों की अन्तर्प्रकृति में यह समकेन्द्रित पंजीकृत सत्तावृत्त सतत सक्रिय है। इन्हें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अस्वीकार करना शाह कैन्यूट की तरह समुद्र को हुकुम देना है कि अबे, पीछे हट। लेखक के निजी प्राइवेट मन, उसके ऐतिहासिक, भौगोलिक परिवेश, उसके विश्वास को रचने वाले 'ऋत' और 'सत्य' के प्रमूल्य जो शाश्वत और समयातीत का अहेरा बनाते हैं, इन सबसे विच्छिन्न होकर के सामाजिक चेतना कोई रूप या आकृति ले ही नहीं सकती।

चालू राजनीति में आज सामाजिक चेतना के नाम पर अशुभ और औचित्यविहीन एवं अनुपातहीन वर्ग-वर्ण और जाति की महत्वाकांक्षाओं को प्ररोचना दी जाती है तथा इतिहास और 'अनुभव-सत्य' द्वारा परीक्षित देश के रक्षा-सूत्रों और प्राण-सूत्रों को निरन्तर धिक्कार दी जाती है। उदारवाद और मुक्त चिन्तन को नाजीवादी भंगिमा में निरन्तर परोसा जा रहा है। फलतः समाजवाद के नाम पर देश जर्मनी के रास्ते पर ठेलकर चला दिया गया है। ऐसी अशुभ और अशोभन आकांक्षाओं की राजनीति को मैं सामाजिक चेतना मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। सामाजिक चेतना जनकोलाहल का पर्याय नहीं होती। साहित्य के सन्दर्भ में उसका बड़ा गम्भीर अर्थ होता है। और वह समूह मन के 'सामयिक' के साथ-साथ 'ऐतिहासिक-भौगोलिक और सांस्कृतिक' आयामों के मंथन द्वारा लब्ध होती है। साहित्य समसामयिक काल की डाक्यूमेन्टरी अर्थात् वृत्त-चित्र ही नहीं होता समसामयिक की डाक्यूमेन्टरी से दायित्वपूर्ण पत्रकारिता (Journal-ism) का भी काम नहीं चल सकता, तो साहित्य के श्रेष्ठतर प्रारूपों की तो बात ही नहीं। सही सामाजिक चेतना में समकालीन के कोलाहल की 'डाक्यूमेन्टरी' के अतिरिक्त कुछ और चाहिए, इसे जितना जल्दी समझ लिया जाय उतना ही हमारे देश और हमारे साहित्य के लिए हितकर होगा।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारी भारत-चेतना

बोलचाल की भाषा और साहित्य, दोनों में ही 'देश' का मतलब सर्वदा वही नहीं होता जो भूगोल में है। भूगोल तो राजनीति का अनुधवन करता है। उसकी मर्जी पर इसका नक्शा बनता-बिगड़ता रहता है। कभी अपना भूगोल सीर और आमू तक विस्तृत था और इन दोनों की मिली-जुली धारा 'वक्षु' (oxus) वैदिक ऋषियों की प्रियतमा नदी थी तथा 'आइजर बेजान' (संस्कृत : 'आर्य बीजस्थान') की घाटी ही अपना घर-द्वार थी। वह था 'त्रिसप्त सिन्धु' यानी इक्कीस नदियों का प्रदेश जिसकी पूर्वी सीमा थी शतद्रु यानी वर्तमान सतलज। आज वही सतलज हमारी पश्चिमी सीमा है। और भूगोल खिसक कर कहाँ से कहाँ चला गया है। एक समय था कि यमुना-पूर्व की भूमि को ही प्राच्य कहा जाता था और वाल्मीकि इस प्राच्य संस्कृत के आदि कवि हैं। भाषा-विज्ञान के पण्डित कहते हैं कि सही शब्द होना चाहिए 'श्रोक', परन्तु प्राच्य बोलियों के दबाव से 'र' का 'ल' हो गया और वाल्मीकि के आविष्कार को 'श्लोक' कहा गया। इतिहास के दूसरे दौर में प्राच्य की सीमारेखा खिसक कर गण्डक (सदानीरा) हो गयी और उसके पूर्व की भूमि कही गयी अंगदेश। अंगदेश अर्थात् अंगनादेश, नारी-राज्य। नारी-राज्य इसलिए कि आर्येतर जनजातियों में उत्तराधिकार कन्या को ही मिलता है, पुत्र को नहीं। इतिहास के अन्य अगले धक्के में हमारी यज्ञभूमि का विस्तार प्राग्ज्योतिषपुर (असम) तक हो गया, तो मणिपुर हो गया नारी-राज्य। इस प्रकार हमारा भूगोल इतिहास के दबाव में बढ़ता-सिकुड़ता रहा है। अवश्य ही उत्तर में हिमालय और दक्षिण में 'महोदधि' (हिन्दमहासागर) और 'रत्नाकर' (अरब-समुद्र) ज्यों के त्यों रहे। जो हो इस भूगोल वाले 'देश' का महत्त्व राजनीति और अर्थशास्त्र में ज्यादा है। साहित्य और सामान्य बोलचाल में 'देश' शब्द स्थूल भूगोल का वाचक न होकर एक भाव-सत्ता है।

बोलचाल में जब हम देश शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका तात्पर्य होता है अपना घर-गाँव, जिला-जवार मात्र। यह आइडिया पूरे उत्तरप्रदेश तक भी विस्तृत नहीं हो पाती। सच पूछिए तो उत्तरप्रदेश महज एक प्रशासनात्मक संगठन या इकाई मात्र है। इसकी भाषा, संस्कृति, नृतत्व के आधार पर कोई युक्ति ही नहीं, कोई समुचित आधार ही नहीं कि यह उस तरह एक भावबोध बन पाये जैसे 'महाराष्ट्र' या 'गुजरात' या 'बंगाल' से बन जाता है। जब साहित्य में हम 'देश' शब्द का प्रयोग करते हैं तो यह एक विस्तृत भूखण्ड और उससे संलग्न भावबोध का द्योतक होता है जो 'भारत' शब्द से जुड़ा होकर भी शत-प्रतिशत आज के राजनैतिक भारत के नक्शे का अनुगमन नहीं करता। हम कभी नहीं मान सकते हैं कि सीमाप्रान्त का शालातुरीय वैयाकरण पाणिनी, या बौद्ध योगाचार दर्शन के प्रवर्तक असंग और वसुवंधु भारतीय नहीं थे अथवा तक्षशिला, हिंगलाज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(बिलोचिस्तान), शारदापीठ (गिलगिट) से विदेशीपन जुड़ा है। ये सारे शब्द हमारे मन में स्थित 'देश' सत्ता के अंग हैं, बाहरी या बेगाने नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य में देश एक विस्तीर्ण भावसत्ता के रूप में आता है जो स्थूल आवास-भूमि से कहीं अधिक हमारी 'समग्र मानसिक-अध्यात्मिक अधिष्ठान भूमि' (Total spiritual & psychological inhalitation) से जुड़ा हुआ है। यह हमारे सामूहिक त्रिकाल-व्यापी चेतना-प्रवाह का अंग है। यह हमारी परमास्मृति (W.B. Yeats ने इसे ही Racial Memory कहा है) का सगुण रूपान्तर है। इसे वैदिक साहित्य में आर्यभूमि, यज्ञभूमि, पृथ्वी माता कहा गया है। बौद्धों ने इसे 'जम्बूद्वीप' कहा है। पुराणों ने 'कुमारिकाद्वीप' और भारतवर्ष कहा है। इसका ही एक प्राचीन नाम था 'अजनाम वर्ष'। इसी अर्थ में इस देशबोध का नाम है भारतबोध। जो कोई या जो कुछ भी हमारी परमास्मृति से जुड़ा है वह इसका स्वजन 'अपनाजन' (Insider) है और जो इस प्रवाह से नहीं जुड़ पाया वह पराया या बाहरी (Outsider) रह गया। जो कोई इसमें रहते हुए भी अपने को इससे काट लेता है वह मानसिक-अध्यात्मिक रूप में विस्थापित बन जाता है। मुझे स्मरण आता है इससे आकर जुड़ने वाला एक ग्रीक राजदूत हेलिओडोरस जिसने मालविका नामक एक कुमारी से प्रेम करके वैष्णव धर्म ग्रहण किया था और ईसापूर्व द्वितीय शती में स्थापित उसका गरुड़-स्तम्भ आज भी विदिशा (मध्यप्रदेश) में खड़ा है जिस पर प्राकृत भाषा में ब्राह्मी अक्षरों में खुदा है—

त्रीनि अमृत पदानि (सु) अनुठितानि नेयन्ति
(स्वगं)—दम, चाग, अपमाद।

अर्थात् ''तीन अमृत पदों का अनुष्ठान हमें स्वर्ग पहुँचा देता है और वे हैं दम, याग (त्याग), अप्रमाद।'' और यह महाभारत की आइडिया है 'दमस्त्यागोहप्रमादश्च ब्रह्मणोहया:'—दम, त्याग और अप्रमाद ब्रह्म के घोड़े हैं। जिस पर सवार होकर हम अपना ऊर्ध्वतम विकास कर पाते हैं। तो यह विदेशी हेलिओडोरस अथवा बाद के इतिहास के जायसी-रसखान-खुसरो-अकबर-शेरशाह या सी० एफ० एण्ड्रूज, एनी-बेसेण्ट और सिस्टर निवेदिता, ये सब के सब उसी देशबोध या भारतबोध में अन्तर्भुक्त हो-होकर 'अपनेजन' (Insider) बन जाते हैं, 'देशी' बन जाते हैं, इन्हें कभी भी हमारा मन विदेशी स्वीकार नहीं कर सकता। यह देशबोध उस राष्ट्रवाद से भिन्न है जो भाषा पर आधारित है। भाषा पर आधारित राष्ट्रवाद तो आधुनिक शिक्षा की देन है। यह हमें पीछे की ओर, भाषा आधारित 'ट्राबलिज्म' की ओर ले जाता है। भाषा और सम्प्रदाय को अतिक्रान्त करते हुए जिस देशबोध या भारतबोध का विकास किया गया है वह हमें परम उदार और रमणीय बनाता है। वह क्षुद्रता की सीमाओं को अतिक्रान्त करके हमें सम्पूर्ण मनुष्यत्व से जोड़ता है। उसे छोड़कर अब भाषा और सम्प्रदाय पर आधारित राष्ट्रवाद का वरण करना पीछे लौटना है। यह हमारी शताब्दियों की साधना का फल है जिस बिन्दु की ओर यूरोप के राष्ट्र भी दो-दो महायुद्धों के घूँसे खाकर अग्रसर हो रहे हैं और एक महायुद्ध और हो जाय तो भाषा पर आधारित राष्ट्रवाद पश्चिम यूरोप से तो खत्म ही हो जायेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारे अन्दर 1947 से पहले यह 'देशबोध' मौजूद था। फलतः गुलामी के बावजूद हमने विश्वसंस्कृति और चिन्तन को प्रभावित किया, रवीन्द्रनाथ, गाँधी और अरविन्द के माध्यम से। चीनी, जापानी, रूसी, अरबी और अंग्रेजी-फ्रेंच-जर्मन के शब्दकोषों में 'सर्वोदय', 'अहिंसा', 'सत्याग्रह', 'योग', 'ब्रह्म' आदि शब्दों का प्रवेश हो जाना (ठीक वैसे ही जैसे हमारे शब्दकोषों में सोशलिस्ट, 'कम्युनिस्ट' आदि शब्द आ गये हैं) इस बात का सबूत है कि हमने विश्व-भाषा और चिन्तन को समृद्ध किया है। यह इस बात का सबूत है कि हमने केवल लिया ही नहीं है, दिया भी है। हम 'दाता' भी रहे हैं अपनी राजनैतिक गुलामी के बावजूद। परन्तु आज? आज तो बात ही उलटी है। न केवल आर्थिक क्षेत्र में बल्कि चिन्तन, शिल्प और साहित्य के क्षेत्र में भी हम मात्र 'टुक्कड़खोर' और ऋणी हैं। जब रेल, तार, वायुयान नहीं थे, देश दुर्गम पथों से भरा हुआ था, लोग तीर्थ करने चलते थे तो घर-परिवार से गले मिलकर चलते थे कि अब मिलना होगा या नहीं, कोई ठीक नहीं; तब उस अविकसित कालखण्ड में हमने गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी का एक साथ स्मरण किया। स्नानमंत्र में, 'जम्बूद्वीपे भारत खण्डे' का उच्चारण किया संकल्प में, और जब वीरगाथा की रचना की तो पूरे आसेतु हिमाचल भारत को ला खड़ा कर दिया कुरुक्षेत्र के मैदान में। परन्तु आज जब प्रगति कर रहे हैं, ढोल-मजीरे बजाते हुए 21वीं शती में कम्प्यूटर युग में जा रहे हैं तो अपने को खण्ड-खण्ड करके फिर उसी ट्राइब्रल स्थिति में लाना चाहते हैं जो 3000 वर्ष पूर्व आर्यों के आगमन के समय में थी। आप इसे चाहे तो प्रगति कह लें, परन्तु मैं तो इसे अधोगति ही कहूँगा। इस मानसिक अधोगति का ही एक नमूना है कि 1947 के पूर्व युवाशक्ति के हीरो थे 'जवाहरलाल' और आज की युवाशक्ति के हीरो हैं अमिताभ बच्चन। मैं तो नहीं मानता कि हमारा विकास श्रेष्ठतर मनुष्यत्व की दिशा में हो रहा है।

इस देश में बुद्धिजीवियों का एक दल पैदा हो गया है वे देशबोध, देशप्रेम, देशभक्ति आदि शब्दों पर नये बुद्धिवाद के नाम पर थू-थू छी-छी करते हैं और इसकी बात को सम्प्रदायवाद और पुनरुत्थानवाद से जोड़ते हैं। इनकी दृष्टि में देशबोध अप्रासंगिक और फालतू बात है और कभी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि के नाम पर, तो कभी बुद्धिवाद के नाम पर, तो कभी जनवादी मोर्चे के नाम पर, भारतबोध या देशबोध को हर तरह से क्षीण और दुर्बल करने की अपचेष्टा में लगे हैं। कुछ ऐसी ही हालत फ्रांस के बुद्धिजीवियों की द्वितीय महायुद्ध के पूर्व थी। फलतः जर्मनी के एक तमाचे से ही फ्रांस ढह गया और अंग्रेजों के शरणापन्न हो गया। अंग्रेजों की भी हालत कुछ ऐसी-वैसी ही थी। तो भी अंग्रेज 'God save the king' से सदैव चिपकी रहने वाली जाति है और वे पहले दावँ में गिरकर भी फिर उठकर सँभल गये और खड़े हो गये तो भी अंग्रेज वामपंथी बुद्धिजीवी की भूमिका के बारे में महायुद्धोत्तर काल के प्रसिद्ध औपन्यासिक जार्ज आरवेल (George Orwell) की बात दृष्टव्य है। वह तीसोत्तरी के अंग्रेजी साहित्य को लक्ष्य करके लिखता है "All through the critical years

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(i.e.1930's) many Left wingers were chipping away at English morale, trying to spread out an outlook that was sometimes squashily pacifist, sometimes violently pro-Russian but always anti-British...If the English people suffered for several years a real weakening of morale, so that Fascist nations judged that they were 'decadent' and that it was safe to plunge in war, the intellectual 'sabotage' from the Left was partialy responsible."

(तीसोत्तरी के खतरनाक वर्षों में वामपंथी लेखक ब्रिटेन के मनोबल को तिल-तिल कर काट रहे थे। वे कभी तरल शांतिवादी बनते तो कभी उग्र रूसपंथी, परन्तु सदैव ही ब्रिटिश विरोधी रहते थे। ब्रिटिश जाति का मनोबल निरन्तर कमजोर होता रहा और यही समझकर कि ये अंग्रेज अब पतनोन्मुख गलित जाति बन गये हैं यदि फासिस्ट देशों ने लड़ाई छेड़ दी थी, तो इस स्थिति के लिए आंशिक रूप से जिम्मेदार हैं वामपंथियों द्वारा किया गया अन्तर्ध्वन्स।) मुझे तो लगता है कि अपना देश भी कुछ ऐसे ही अनुभव से गुजर रहा है। यहाँ भी वामपंथी भूमिका यही रही है।

तो ऐसे संदर्भ में हम देशबोध या भारतबोध के पुनर्जागरण को सर्वथा प्रासंगिक मानते हैं। यह आज के संदर्भ में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम देश-भक्ति के महत्व को स्वीकारें और देशबोध को शक्ति का सर्वोत्तम स्रोत मानकर चलें। इसे बदनाम करने के लिए एक दल इसे नाजी या फासिस्ट चिन्ता से जोड़कर देखता है। परन्तु यह भूल जाता है कि भारतीय राष्ट्रवाद सनातन से त्याग, दम, अप्रमाद और अहिंसा से जुड़ा हुआ है और यह सार्वभौम मानववाद का नामान्तर है। 19वीं शती के भारतीय पुनर्जागरण काल में इसके सर्वोत्तम व्याख्याकार रवीन्द्रनाथ ने 'हे मोर चित' नामक कविता में भारतवर्ष को 'महामानव-सागर' कहा था। इस देश की कहानी को उन्होंने 'ज्ञानधर्मकृत पुण्य काहिनी' के रूप में देखा था। उनकी एक प्रसिद्ध कविता का प्रारम्भ है—

अयि भुवन मोहिनी,
प्रथम प्रभात उदय तब गगने
प्रथम सामरव तव तपोवने
प्रथम प्रचारित तव तप भवने
ज्ञानधर्मकृत पुण्य पुण्यकाहिनी।

हिन्दी में इस 'ज्ञान-धर्म' पर आधारित राष्ट्रीयता के कवि दो हैं। प्रथम हैं मैथिलीशरण गुप्त, जिन्होंने 'भारतभारती' के माध्यम से इसका प्रस्थान-बिन्दु रचा था और उस प्रस्थान-बिन्दु का उच्चतम विकास हम पाते हैं 'दिनकर' की कविताओं और विशेष रूप से उनके महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' में। इसी अर्थ में जयप्रकाश नारायण ने 'कुरुक्षेत्र' को आधुनिक युग की गीता कहा था। W.B. Yeats ने आयरलैण्ड के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पुनर्जन्म के लिए प्राचीन केल्टिक गाथाओं (Celtic Mythology)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का आश्रय लिया था और रवीन्द्रनाथ के 'महामानव समुद्र' के समानान्तर ही नये आयरलैण्ड की कल्पना प्रस्तुत की थी जो क्षुद्र राष्ट्रीयता से ऊपर 'मनुष्यत्व' का प्रतीक होगा। मैथिलीशरण गुप्त और 'दिनकर' ने भी भारतीय पुराणों (Mythology) का आश्रय लेकर अपनी इसी देशबोध की भावना को अभिव्यक्ति दी थी। 'दिनकर' की कविता 'किसका नमन करूँ मैं भारत, किसका नमन करूँ मैं' इसी भाव को अभिव्यक्त करती है कि भारत 'देह' नहीं 'मन' का वाचक है। यह सूक्ष्म चिन्मय भावसत्ता है। प्रश्नवाचक शैली में उन्होंने कहा था—

तेरा या तेरे नदीश, गिरिवन पथ का नमन करूँ मैं
मेरे प्यारे देश 'देह' या 'मन' का नमन करूँ मैं।

गुप्त जी ने भी अपने महाकाव्यों के माध्यम से देश के प्राचीन आदर्श, त्याग, तप, अप्रमाद (कर्मयोग) और अहिंसा का ही आदर्श रखा है। उनके नायक रामचन्द्र, गौतम बुद्ध से लेकर दिवोदास तक एक ही बात कहते हैं कि मनुष्यत्व को इतना ऊपर उठा दो कि स्वर्ग या देव-लोक धरती पर ही विकसित हो जाये। उनका एक द्वितीय श्रेणी का नायक सिद्धराज तक इसी बात को कहता है—

आर्य भूमि अन्त में रहेगी आर्य भूमि ही
आकर मिलेगी यहीं संस्कृतियाँ सबकी
होगा एक दिन विश्वतीर्थ भारत ही भूमि का।

भारत की विश्वतीर्थ के रूप में कल्पना जर्मनी बर्बर राष्ट्रवाद से सर्वथा एक भिन्न तथ्य है। यह उदार चित्त से प्रतिष्ठित सार्वभौम मानववाद पर आश्रित देशबोध की एक रमणीय कल्पना है। यह स्मरण दिलाती है कि हमारा भी एक मिशन है। हमारी भी एक प्रतिज्ञा है और हमारी एक प्रार्थना है—"आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः।" चारों दिशाओं से हमारे पास भद्र कल्याणकारी विचार आवें और हम "सर्वे भद्राणि पश्यन्तु" की भावना करें।

इस राष्ट्रवाद की दो ही प्रतिज्ञाएँ हैं—(1) 'कुर्वन्तो विश्वमार्यम्'—अपने चारों ओर के जनपरिवेश (विश्वम्) को 'आर्य' (श्रेष्ठ एवं शुभ) बनाना। (2) 'आनो भद्राक्रतवो यन्तुविश्वतः।' चारों ओर से (विश्वतः) हमारे पास कल्याणमय (भद्र) विचार आवें। अर्थात् हम विश्व को भद्र करें और अपने नीरक्षीरविवेक से विश्व के माध्यम से स्व भी भद्र हो। आर्य शब्द का क्षुद्र प्रजातिगत अर्थ तो नवशिक्षा की देन है। यह हमारा अपना निजी अर्थ नहीं।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्य और वास्तव : भारतीय आर्ष-दृष्टि

भारतीय चिन्तन के बारे में एक बड़ी मौलिक और बड़ी विचित्र बात यह है कि यह उपनिषदों से लेकर रवीन्द्रनाथ तक 'सत्य' और 'वास्तव' में भेद करती हुई ज्ञात होती है और जिसे 'यथार्थ', 'वास्तव' या 'रीयल' कहा जाता है उसे यह हर स्थिति में 'सत्य' मानने को प्रस्तुत नहीं। जिस 'वास्तव' में 'सद्' प्रतिष्ठित हो ('ईशावास्यमिदं सर्व यत् किंच जगत्यां जगत्'), वहीं इसके अनुसार सत्य है। सत्य सद् है। अतः वह शाश्वत और अक्षर की एक कला है। हम जिसे 'वास्तव' या 'यथार्थ' कहते हैं वह माया की लीला है। माया ब्रह्म की तुलना में तो मिथ्या है ही, पर भारतीय दृष्टि व्यवहारिक स्तर पर माया को सर्वदा मिथ्या नहीं मानती। वस्तुतः माया के रूप हैं सद् और असद्। हमारे दैनिक जीवन में और इतिहास की छोटी-बड़ी घटनाओं में भी माया का असद् रूप व्यक्त होता है क्योंकि मिथ्या और कपट को मनुष्य इस बैरी जगत् में कवच मानकर धारण करता ही है। वह अपनी भ्रान्ति में इसे सुरक्षा-कवच मानकर चलता है और इसे सत्य का मुखौटा पहना कर 'सत्य, सत्य, महासत्य' की घोषणा करते चलता है। परन्तु व्यक्तिगत जीवन में और जातीय जीवन में 'उघरहिं अन्त न होहिं निबाहूँ।' अन्त में अनावृत असत्य सामने आ ही जाता है। भारतीय दृष्टि ऐसे यथार्थ या वास्तव को निरस्त करती है और इसे वह 'सत्य' नहीं मानती। परन्तु माया का एक 'सद्' रूप है और इस रूप में वह ब्रह्म की भगवती शक्ति है। इसकी भूमिका सर्जनात्मक होती है। यह 'सद्माया' ही शैव सिद्धांत में 'सद्विद्या' कही गयी है और वैष्णवों ने इसे भगवान की शक्ति माना है जिसके तीन रूप हैं संवित्, संधिनी और आह्लादिनी। यह सद्माया 'राग' शक्ति है और सर्जनात्मक है। इसकी लीला असत्य नहीं। जो यथार्थ या वास्तव इसकी लीला है वह भारतीय दृष्टि से 'सत्य' है और कला-साहित्य तथा जीवन में वही प्रतिष्ठा पाता है। परन्तु असद्माया नित्य मन के भीतर लालसाओं और प्रलोभनों के बीच अवतार ले रही है और महिषासुर, रावण, दुर्योधन, कंस या इतिहास में पैदा हुए अनेक इनके प्रतिरूप जन्म लेते हैं। यह सब असद्माया की लीला है। ऐतिहासिक होते हुए भी भारतीय दृष्टि से यह 'सत्य' नहीं। सत्य के दो रूप होते हैं—(1) शाश्वत और ध्रुवरूप 'सत्यं', (2) नित्य परन्तु प्रवाहशीलरूप 'ऋतं'। यह 'ऋतं' ही इतिहास में अथवा दैनिक जीवन में सत्य का प्रत्यक्ष रूप है। जगत् में यही प्रतिष्ठित है।

'ईशावास्यमिदंसर्व यत् किंच जगत्यां जगत्' में इसी 'ऋत' का संकेत है। 'प्राणियों में धर्मानुकूल काम मैं हूँ' (गीता) में इसी 'ऋत' का संकेत किया गया है। यह 'ऋत' सत्य का ही प्रवाहशील रूप है। अतः इसमें एक 'छन्द' है, इसकी गति में एक लय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, और माया की जो लीला इस 'छन्द' के अनुकूल है वही सत्य, शिव, शान्त और सुन्दर कही गयी है। परन्तु जो माया की क्रिया-प्रतिक्रिया इस 'ऋत' के छन्द के साथ ताल मिलाकर नहीं चलती है, वही 'असद्माया' है। वह असत्य, अशिव, अशान्त (उग्र और उत्तेजक) तथा असुन्दर है। इसी 'असद्माया' का दूसरा नाम 'मोह' है। यह 'मोह' है, भ्रान्ति है, असत्य है। उपनिषदों से लेकर रवीन्द्रनाथ तक दृढ़तापूर्वक ऐसे 'वास्तव' या 'यथार्थ' को सत्य नहीं माना गया है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, ''प्रत्येक देश में मनुष्य अपनी सत्य प्रकृति की असत्य दीनता के हाथों से रक्षा करता हुआ चल रहा है। मनुष्य अपने दैन्य कों, अपनी विकृति को 'वास्तव' जानते हुए भी 'सत्य' मानकर विश्वास नहीं करता। वह अपनी सृष्टि (साहित्य-शिल्प आदि) में अपने लब्ध सत्य को ही प्रतिष्ठित करता है। वस्तुतः दैनिक जीवन में मनुष्य अनेक जोड़-तोड़ के आवरणों के मध्य जी रहा है, नाना विकारों से वह कृत्रिम हो जाता है, परन्तु साहित्य के तपोवन में और ध्यान की ऋद्धि के भीतर वह अपनी परिपूर्णता लब्ध करता है। जहाँ मनुष्य की इस आत्माभिव्यक्ति के प्रति अश्रद्धा व्यक्त की जाती है, वहाँ पर 'मनुष्य' ही खो जाता है। उसको (इस आवरण को और कृत्रिमता को) हम 'वास्तव' नाम भले ही दे लें, परन्तु मनुष्य निरा 'वास्तव' ही नहीं है, उसका बहुलांश 'अवास्तव' है अर्थात् 'सत्य' है।'' (साहित्येर स्वरूप, पृ० 48)

रवीन्द्रनाथ ने मृत्यु से एक वर्ष पूर्व इसे लिखा था। इसके पहले भी अनेक स्थलों पर वे 'सत्य और वास्तव' का प्रभेद करते हुए अपने को सत्य का पक्षधर घोषित करते हैं। तालस्ताय की 'वास्तव' पर आधारित कृति 'अन्नाकेरिनिना' को उन्होंने आत्मक्षयी मानकर इसी आधार पर निरस्त किया है कि मनुष्य जीवन के 'सत्य' का इसमें कोई संकेत नहीं। असद्माया की लीलाओं पर आधारित ऐसी कृतियों को जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सत्य का कोई संकेत देने में असमर्थ हैं, केवल वास्तव की 'विकृति' और मोह का आवरण मान देती हैं, इस विकृति से उद्धार के लिए या आवरण-भंग के द्वारा सत्य-साक्षात्कार का जिनमें कोई संकेत या कोई किरण वर्तमान नहीं, भारतीय दृष्टि कोई महत्व नहीं देती और इसे 'भ्रान्ति' मानती है। यद्यपि आज की यथार्थवादी दृष्टि इसी भ्रान्ति को मोहक बनाकर प्रस्तुत कर रही है। परन्तु भारतीय दृष्टि से यह सब सम्मोहन दिशाभ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं । कहने का तात्पर्य यह कि 'सत्य' और 'वास्तव' में प्रभेद तथा 'वास्तव' की दो कोटियों का निर्धारण भारतीय दृष्टि की प्रथम मौलिक विशिष्टता है और इस पर वह बड़ी स्पष्टता से अपने को प्रतिष्ठित किये हैं।

इस तथ्य का प्रभाव भारतीय साहित्य, चिन्तन, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और नृत्य सब कुछ पर बड़ी गहराई से पड़ा है। 'सत्य' पर अत्यधिक बलाघात होने के कारण ही यहाँ पर प्रत्यक्ष 'वास्तव' यानी 'यथार्थ' अपेक्षाकृत उपेक्षित रहा। भारतीय मनीषा प्रत्यक्ष रूप और इसकी सीमाओं की तुलना में परोक्ष 'सत्ता' और उसकी अनन्त संभावनाओं को ही महत्व देती रही है। बाह्यस्थ या 'वास्तव' प्रस्तुत करते हुए भी उसे मुख्य भूमिका देने को वह तैयार नहीं। मनुष्य के व्यक्त और अव्यक्त दोनों तत्व हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय चिन्तन 'अव्यक्त' का अनुसंधान करना ही अपना मुख्य ध्येय मानता है। यह तथ्य 'छान्दोग्य उपनिषद' में प्रजापति और इन्द्र तथा विरोचन के संवाद में बड़े स्पष्ट ढंग से उतरा है। देवता और असुर परम्परा से प्रजापति के इस कथन को जानते थे कि 'जो आत्मा को जानता है, वह सम्पूर्ण लोकों को प्राप्त कर लेता है और सम्पूर्ण भोगों का स्वामी बन जाता है।' प्रजापति का आशय बड़ा गूढ़ था। उन्होंने जिस 'श्री' या 'ऋद्धि' की बात कही है वह भौतिक श्री या ऋद्धि नहीं है, वह 'ब्रह्म श्री' है। विरोचन असुरों का प्रतिनिधि बनकर और इन्द्र देवों का प्रतिनिधि बनकर प्रजापति के पास पूछने गये—"भगवन्, यह 'आत्मा' क्या है?" प्रजापति ने उन दोनों को बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करके आने को कहा। दोनों बत्तीस वर्ष बाद गये। प्रजापति ने उन्हें अलंकृत होकर आने को कहा। दोनों सुन्दर वेश में सज्जित होकर गये। तब उन्होंने इन दोनों को जलाशय में झाँकने को कहा—"तुम्हें जो दिखाई दे रहा है वही आत्मा है, वही अमृत है, वही अभय है।" विरोचन तो इस उत्तर से संतुष्ट होकर चला गया और शान्तचित्त से असुरों को बताया—"यह जो दृश्यमान देह है, यही आत्मा है। इस देह की आराधना ही आत्मा की आराधना है।" अत: "खाओ, पिओ और खूब मौज करो।" असुर तभी से देहवादी दर्शन में विश्वास करते हैं। परन्तु इन्द्र को इस उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। वे दुबारा अकेले प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उन्हें पुन: तप और ब्रह्मचर्य का पालन करके आने को कहा। इन्द्र ने वैसा ही किया। अन्त में प्रजापति ने देहवाद का खण्डन करते हुए अविनाशी अमृत 'आत्मा' के स्वरूप का उपदेश दिया। इन्द्र ने देवताओं को इस आत्मविद्या का रहस्य बताया। भारतीय मनीषा का विश्वास है कि देवगण असुरों से ज्यादा बलशाली हैं क्योंकि उनको 'आत्मा' का रहस्य उपलब्ध है और वे अध्यात्मवादी हैं। वेदान्त और बौद्ध दर्शन दोनों ने इस 'आइडिया' पर बार-बार बल दिया कि जो दृश्यमान है, जो प्रत्यक्ष है, वह आभास है। प्रतिबिम्ब है अथवा उससे भी आगे 'अध्यास' या 'भ्रान्ति' है। वह सत्य नहीं है।

वस्तुत: 'वास्तव' की तुलना में सत्य पर अधिक बल भारतीय मनीषा की सबसे बड़ी शक्ति है और विशेष स्थितियों में यह उसकी सबसे बड़ी कमजोरी भी सिद्ध हुई है। अर्थ और काम को ऋतानुकूल स्वीकार करते हुए भी धर्म और मोक्ष को श्रेष्ठतर पुरुषार्थ मानते चलने से उसका नैतिकताबोध और ज्यादा शक्तिशाली बना रहा, परन्तु लौकिक जीवन की अपेक्षाओं की पूर्ति में यह प्रवृत्ति बाधक सिद्ध हुई। परन्तु इसका 'विधेयात्मक' हाँ-धर्मी मूल्य आज के न केवल भारतीय समाज के लिए बल्कि समस्त मानव-समाज के लिए मंगलकारक है। आज का मनुष्य 'येन केन प्रकारेण' संचय और अविराम भोग का विश्वासी है। इस संचय और अविराम भोग के लिए वह बड़ी से बड़ी नैतिक और रागात्मक अपेक्षाओं की बेहिचक बलि दे रहा है। यही आज की समस्याओं के मूल में है। अत: भोगाश्रयी, संचय-लोलुप, कामातुर, समाज के लिए यह भारतीय दृष्टि एक महौषधि है। ज़ीवन में वैराग्य, त्याग और अनासक्ति का कुछ पुट न रहे तो जीवन भोगजर्जर हो जाता है। मनुष्य 'कामना' के 'ड्रग' (विष)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के नशे में अपनी आत्मा एवं अपने मनुष्यत्व को मूल्यहीन और फालतू मानने लगता है। ऐसे समाज का नेतृत्व तानाशाहों के हाथ में जल्दी आ जाता है। क्योंकि ऐसे समाज के मनुष्य बड़ी आसानी से अपनी आत्मा और स्वतंत्र चिन्ताशक्ति को कामना-तोष की खुली छूट के बदले में शासक के हाथों गिरवी रख देते हैं। भोगप्रधान धर्मों और संस्कृतियों के धार्मिक और सामाजिक नायकों की प्रकृति तानाशाही होती है और वे मतभेद बरदाश्त नहीं कर पाते। तानाशाही चाहे धर्म में हो या राजनीति में आन्तरिक जर्जरता का लक्षण है, यद्यपि उसके अनुचर बुद्धिजीवी इसकी प्रगतिशीलता तरह-तरह से भाषा के बल पर उच्च कण्ठ से घोषित करते रहते हैं और कामना-भोग (चाहे यह कामना 'सत्ता' की हो या 'सेक्स' की) के 'ड्रग' से आविष्ट जनसमाज की मानसिक क्षमता इतनी कुण्ठित हो गयी रहती है कि वह शब्दों के खोखलेपन को पकड़ नहीं पाता है। बिना त्याग, वैराग्य और संयम का थोड़ा बहुत पुट रहे, न तो कोई व्यक्ति और न कोई राष्ट्र अपनी अस्मिता की रक्षा कर सकता है और न वह कोई महत् कार्य कर सकता है। अत: भारतीय दृष्टि द्वारा 'सत्य' और 'वास्तव' में प्रभेद तथा 'असद् वास्तव' की अस्वीकृति जीवन-विरोधी सिद्धान्त नहीं, बल्कि आज की एक अनिवार्य आवश्यकता है। राजनीतिज्ञ और व्यवसायी दोनों अपने-अपने ढंग से मनुष्य की सद्वृत्ति पर आवरण पर आवरण चढ़ाते जा रहे हैं। एक के पास 'क्रोध' का 'ड्रग' है तो दूसरे के पास 'काम' का। हमें यदि उबरना है, यदि आत्माविहीन और निर्बीज नहीं हो जाना है, तो इनके प्रलोभनों का निराकरण करते हुए चलना होगा। इस पृष्ठभूमि में सोचने पर भारतीय दृष्टि की उपादेयता अपने आप स्पष्ट हो जाती है। वेदान्ती मनोभूमि को धारण करके यदि हम अपनी लोकयात्रा यानी जीवन-निर्वाह के लिए इस 'वास्तव' की अपेक्षाओं की पूर्ति करते चलेंगे तो हम वास्तव के वरण में अनुपातहीन नहीं होंगे। ''तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'' का मर्म यही है। इसे मैं भी स्वीकार करता हूँ कि 'वास्तव' को अस्वीकार करके माया जगत् में हमारी लोकयात्रा एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती। 'वास्तव' हमारे ऊपर थोपा गया एक दायित्व है। इस दायित्व का परित्याग करने को न तो श्रुति कहती है और न गीता का ही आदेश है। परन्तु इसकी अनुपातहीन उपासना ही हमारे सारे व्यक्तिगत सामाजिक दु:खों के मूल में है। अनुपात के भीतर चलते हुए हम 'त्यक्तेन भुंजीथा:' के आदर्श को ग्रहण करें। तैत्तिरीय उपनिषद (ब्रह्मानन्द वल्ली) में इसका अर्थ स्पष्ट किया गया है—''सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।'' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है। इसकी दो स्थितियाँ हैं—हमारे हृदय की 'गुहा' में और 'परम व्योम' में (यह विराट और अन्तर्यामी दोनों है)। जो इस तथ्य को समझता है वह इस विपश्चित् (ज्ञान स्वरूप-सत्य स्वरूप) ब्रह्म (अन्तर्यामी रूप) के साथ (अपनी इन्द्रियों द्वारा) सारी कामनाओं को भोगता है। यह है 'सत्य' (ब्रह्म) के बोध से सम्पृक्त मन के द्वारा 'वास्तव' (ऐन्द्रिक) को भोगने की शैली। भारतीय दृष्टि 'वास्तव' को निरस्त या अस्वीकृत नहीं करती, पर उसे सर्वदा सत्य के अर्थात् 'ऋत' के छन्द से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जोड़कर गतिमान रखने का उपदेश देती है। यही है उपनिषदों से लेकर रवीन्द्र-गाँधी तक, हमारे देश की स्वीकृत और प्रामाणिक सत्य दृष्टि, जिसे हम जीवन, राजनीति, व्यवसाय, साहित्य और शिल्प में ग्रहण करके चलें तो अपना और मनुष्य-जाति का मंगल सिद्ध होगा।

आज हम एक आत्माविहीन राष्ट्र की तरह अहंकार और ललकार की उत्तेजना के बल पर आगे बढ़ते जा रहे हैं। नशे में प्रमत्त की तरह। हमारा आर्ष-चिन्तन और वेदान्ती दृष्टि इस परिवेश में एक प्रतिरोधक महौषधि की तरह है जो हमें और हमारी प्रगति को निरुज, स्वस्थ और विशुद्ध करेगी। आज नहीं तो कल। हमें इस दिशा में सोचने को बाध्य होना पड़ेगा।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानस-दृढ़ता और संघर्षशील चरित्र का सूत्र

मेरे अपने लेखकीय द्विजत्व के पुरोहित पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने मुझसे 'मानस-चतुर्दशी-समारोह' पर जिसे भारतवर्ष में 1974 ई० में बड़ी धूमधाम से मनाने जा रहा है, कुछ लिखने को कहा तो मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया, क्योंकि सारी समस्या एक वृहत्तर सांस्कृतिक-नैतिक और आध्यात्मिक समस्या के अन्दर अन्तर्भुक्त-सी लगती है और मानस-समारोह को उस वृहत्तर समस्या-वृत्त के मध्य रखकर ही देखना होगा अन्यथा विगत टैगोरशतवार्षिकी और गालिब-शताब्दी समारोह की तरह यह भी तमाशा लूट-खसोट बनकर रह जायगा। यों भी गालिब-शताब्दी समारोह में ज्यादा आशा भी नहीं थी। प्रथमतः गालिब एक ऐसी भाषा के कवि थे जो अपने को अभारतीय रखने में ही गौरव का अनुभव करती है (यद्यपि है वह भारतीय ही, पर वह एक स्वयं आरोपित 'बाहरीपन' का शाप भोग रही है और शाप भोग में ही उसे एक रस भी मिल रहा है, आत्म-पीड़न रस!) और उस भाषा में वर्तमान मुखिया-मातब्बरों की किसी अखिल भारतीय सांस्कृतिक और नैतिक समस्या की ज्यादा चिन्ता नहीं है। वे तो अपनी सारी प्रतिभा का सदुपयोग हिन्दी को गालियाँ देने में करते हैं। उन्हें स्वतः गालिब से कोई विशेष मतलब नहीं। गालिब अपनी अभिव्यक्ति श्रेष्ठता के बल पर बिना किसी समारोह के ही जनता के प्रेमपात्र रहे हैं, और रहेंगे। यह और बात है। गालिब-शताब्दी समारोह से अखिल भारतीय सांस्कृतिक-नैतिक संदर्भ में ज्यादा आशा एक दूसरे कारण से भी नहीं की गयी थी और वह थी गालिब की काव्य-प्रकृति। गालिब की कविता शुद्ध रसवादी है। 'बिहारी-सतसई' की तरह उसका रस-गत (ऐस्थेटिक) महत्त्व ही है, और वह रस-रुचि को ही ऋद्धि प्रदान कर सकती है परन्तु चारित्रिक ऋद्धि का स्रोत वह नहीं बन सकती। कवि दो तरह के होते हैं, 'ऋद्धिप्रधान' यथा व्यास, वाल्मीकि, होमर, वर्जिल, सूर, कबीर और तुलसीदास और 'रस-प्रधान' यथा गालिब और बिहारी। कोई-कोई कवि ऋद्धि और रस दोनों दृष्टियों से समृद्ध होते हैं यथा वर्जिल, कालिदास, सूरदास और टैगोर। स्मरण रहे कि यहाँ मैं बड़ाई-छोटाई की बात नहीं कर रहा हूँ। जो ऋद्धि प्रधान कवि हैं उन्होंने 'भूमा' तत्व और 'शील' तत्व निहित है और यह भूमा अर्थात् 'विस्तृत होने की इच्छा' और यह शील अर्थात् 'पवित्र होने की इच्छा' ऋद्धि-प्रधान काव्य ही दे सकता है। रस-प्रधान काव्य रसास्वादन देता है। भूमा का आनन्द है—प्रस्फुटित होने का आनन्द, जो सूर्योदय तथा गर्जित समुद्र के सम्मुख अथवा समर-विजय या अन्य किसी सफलता का समाचार पाकर प्राप्त होता है। रस का आनन्द है, सुख-अधिक्य से आँखें मूँद जाने का आनन्द, सारे पाप-ताप, सारी चिन्ता से मुक्त होकर सम्पुटित हो जाने का आनन्द, किसी एक केन्द्र पर सारे ध्यान को स्थापित करके मत्त और स्तब्ध हो जाने का आनन्द, स्वाद-भोग में अपने अहं को खो देने का आनन्द, रतिक्रिया के चरम बिन्दु जैसा आनन्द,—इसका मुख्य धर्म-विस्तार नहीं केन्द्रीकरण है। कहने का तात्पर्य यह कि गालिब मूलतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रसप्रधान कवि हैं। वे बिहारी की कोटि में आते हैं। इन दोनों में मात्रा-भेद अवश्य है, कोटि-भेद नहीं। अतः उनसे देश की सांस्कृतिक-नैतिक संरचना में बहुत सीमित आशा ही की जा सकती है। उनके काव्य में किसी जाति के जन्म या पुनर्जन्म के बोध-बीज नहीं। राष्ट्रीय मनस् को गढ़ने, भूमासम्पन्न करने, शीलसम्पन्न करने का कार्य ऋद्धि-प्रधान काव्य से ही संभव है। टैगोर रस और ऋद्धि दोनों से सम्पन्न हैं। उनसे यह आशा की जा सकती थी। परन्तु हुमायूँ कबीर द्वारा मुक्त हस्त सरकारी व्यय के बावजूद बंगाली युवामन पर उसका कितना प्रभाव पड़ा इसका अनुभव शताब्दी समारोह के दो वर्ष बाद घटित रवीन्द्र-सरोवर की घटना और मूर्तिभंजन के सामूहिक उन्माद को देखकर किया जा सकता है। यह सही है कि बाँगला-देश के स्वातंत्र्य युद्ध में रवीन्द्रनाथ की कविता ही सबसे कारगर हथियार रही है। परन्तु इसका श्रेय रवीन्द्र की काव्य-प्रतिभा को है, उसके अन्दर निहित भूमा और शील के तत्त्वों को है। इसका रवीन्द्र शताब्दी समारोह से कोई सम्बन्ध नहीं। एक विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ पाकर उनकी कविता ने उसमें प्राण-विद्युत का संचार किया। पर शील और संस्कृति का सम्बन्ध समर-भूमि से नहीं, दैनन्दिन जीवन-प्रवाह से है और उस दैनन्दिन जीवन-प्रवाह में रवीन्द्रनाथ या विवेकानन्द किस सीमा तक किसी भारतीय विशेष रूप से किसी बंगाली के जीवन में समादृत हैं, यह सभी जानते हैं। विवेकानन्द से तो कोई नाता ही नहीं और रवीन्द्रनाथ (भले ही बाँगला देश के सामरिक सन्दर्भ में पैगम्बर हों) आज भारत और पश्चिम बंगाल में मात्र 'उत्सवचारण' हैं। नया बंगाली टैगोर को 'योग्य' नहीं, 'भोग्य' मानता है। जिस संस्था के वे सनातन गुरुदेव हैं और जहाँ से उन्हें 'गुरुदेव' कहने का अखिल भारतीय फैशन चला है, उसी विश्वभारती में सर्वध्वंसवादी दर्शन का अर्थात् नक्सल पंथ का युवावर्ग में सर्वाधिक प्रभुत्व है। टैगोर इतनी क्षमता के अधिकारी हैं कि उनके बिना बंगाली का काम नहीं चल सकता और उनकी सारी क्षमता का लाभ उठाते हुए भी नया बंगाली उन्हें जर्जर-पुराना-अक्षम और कपटी और क्या-क्या सब कहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रवीन्द्र शताब्दी समारोह की ही तरह, यदि 'मानस चतुर्शती महोत्सव' भी खेलतमाशा, स्मारक ग्रन्थ और पण्डितों द्वारा नाम-यश और दक्षिणा की लूट-खसोट हो, तो इसके मनाने से क्या लाभ? केन्द्रीय सरकार तुलसीदास के लिये उस तरह थैली नहीं खोलेगी जैसे टैगोर और गालिब के लिये मुक्त भाव से उसने खोल दिया था, क्योंकि तुलसीदास 'हिन्दू' और 'हिन्दी वाला' दोनों 'दुर्गुणों' (?) से सम्पन्न है। परन्तु प्रान्तीय सरकारें हैं और जनता है। सम्भवतः पैसे की कमी नहीं होगी। चिन्ता 'अर्थ' से भी ज्यादा 'व्यर्थ' की है। टैगोर शताब्दी समारोह के अवसर पर टैगोर पर सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थ साहित्य एकेडेमी या भारत सरकार नहीं निकाल सकी। विश्वभारती या बंगाली प्रकाशकों द्वारा पुराने पत्रों, संस्मरणों या शोध-रिसर्च की कुछ सामग्री अवश्य प्रकाशित हुई है; टैगोर के जीवन पर अधिक सामग्री बाहर से आयी है; परन्तु उनके साहित्य पर शताब्दी समारोह के संदर्भ में कोई उल्लेखनीय प्रकाशन हुआ हो, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। मैंने जहाँ तक पता लगाने की चेष्टा की है, उत्तर नकारात्मक मिला है। अतः 'मानस चतुर्शती समारोह' भी इसी भाँति 'उत्सव' और 'महफिल' बनकर व्यर्थ हो जाय, वह राष्ट्रीय मानस को पुनर्जाग्रत और उद्बुद्ध न कर सके, उसे एक सांस्कृतिक-नैतिक विप्लव की और भारतीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाति के आन्तरिक पुनर्जन्म की भूमिका न बनाया जा सके, वह कीर्तन-भजन और मेला बनकर भीतर ही भीतर सुलगकर बुझ जाय, तो क्या लाभ इसे मनाने से और शक्ति का अपव्यय करने से? मेरे मन में यह प्रश्न बार-बार आता रहा है। यद्यपि इस सम्पूर्ण निराशामय वातावरण में एक ही आशा की किरण है, वह यह कि तुलसी के लिये सरकारी पैसा तो बहुत कम मिलेगा अतः 'मालेमुफ्त दिले बेरहम' की शैली में यह 'उत्सव या समारोह' नहीं बन पायेगा—तुलसी के लिये जो कुछ करेगी, वह जनता ही करेगी और जनता द्वारा जो सम्पन्न होगा वह शृङ्खलाहीन भेड़ियाधसान तो अवश्य होगा पर वह 'उत्सव' नहीं होगा, 'मेला' होगा। उत्सव नियोजित नियमबद्ध होता है पर 'उत्सव' से हम खाली हाथ ही लौटते हैं। परन्तु मेला नियममुक्त होने पर भी कुछ न कुछ देता है। मेले से खाली हाथ कोई नहीं लौटता है। कुछ खिलौने लेकर, कुछ बैलून लेकर, कुछ मिठाइयाँ लेकर लौटते हैं, अपनी-अपनी किस्मत, पुरुषार्थ और हुड़दंगई के अनुसार। परन्तु हमारा उद्देश्य 'तुलसी मानस-समारोह' को एक मेला के साथ-साथ एक स्थायी निरन्तर जाग्रत, गुडाकेश, दीक्षा-पीठ या दीक्षाकल्प के रूप में परिवर्तित करने का है जो एक अरूप अदृश्य 'चर्च' के रूप में व्यक्ति में अलग-अलग तथा समूची जाति में एक साथ भूमा (विस्तार-गुण) और शील (चारित्रिक पवित्रता) का संचार करेगा। हमारा उद्देश्य है इसके द्वारा एक आन्तरिक पुनर्जन्म के सूत्रपात और संचालन का। रामचरितमानस तमसाच्छन्न 16वीं, 17वीं, 18वीं, 19वीं और इस 20वीं शती (पूर्वार्ध) में यही भूमिका निभाता रहा है। आज उसकी वह महत्ता ग्रहण-ग्रस्त लगती है। अतः यह समारोह एक उचित अवसर प्रदान करता है 'मानस' को बदलते हुए सन्दर्भों के भीतर उसी भूमिका या उसके समानान्तर भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का। आज सरकारी और गैरसरकारी दोनों किस्म की 'राजनीति' साहित्य से 'प्रतिबद्धता' की माँग करने लगी है और वह सांस्कृतिक जीवन में शोषक और आरोपित सत्ता का रूप धारण कर चुकी है। युवावर्ग 'आस्था' या 'विश्वास' को खो चुका है। इस आस्था-हीनता के चार कारण हैं—प्रथम है 'नास्ति' प्रधान साहित्य जो बालकाल से ही पाठ्य पुस्तकों और साप्ताहिकों-मासिकों के मध्य उसे पढ़ने को मिला। द्वितीय उसकी अपनी उच्छृङ्खला और उत्तर-दायित्वहीनता जिसको कुछ बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों ने दार्शनिकता का जामा पहनाया। तृतीय है हमारा धर्म जो आज कर्मकाण्ड के पाखण्ड के फलस्वरूप सम्पूर्णतः अदृश्य है और, चौथा कारण है आधुनिक शासन-व्यवस्था जिसके समाजवाद और डेमोक्रेसी का अर्थ होता है पार्टीतंत्र और अमलातंत्र, जिसके सेक्यूलरिज्म का अर्थ होता है 'हिन्दु-निरपेक्षता' फलतः 'भारतीय-निरपेक्षता' (इस विचार को डॉ० लोहिया और 'दिनकर' जैसे व्यक्तियों ने भी व्यक्त किया है) और जिसका सारा आदर्शवाद सुविधावाद का नया रूप है। कहने का तात्पर्य यह कि इस आस्था-हीनता के लिए युवावर्ग स्वयं एक-चौथाई ही दोषी है। तीन-चौथाई दोषी है हमारा वर्तमान साहित्य, वर्तमान धर्म और वर्तमान शासन-व्यवस्था। अतः आज 'मानस' की महिमा पर ग्रहण जो लगा है वह आस्था के ऊपर लगे ग्रहण, एक वृहत्तर 'क्राइसिस ऑफ फेथ' (Crisis of faith) का ही एक पहलू है और मानस को युवामन में पुनः प्रतिष्ठित करने का अर्थ है आस्था को पुनः प्रतिष्ठित करना। इस प्रकार जिस दीक्षा-कल्प या अदृश्यचर्च की हमने उपर्युक्त पंक्तियों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में बात की है, वह हमसे बृहत्तर वैचारिक संघर्ष की अपेक्षा करता है जो सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक स्तरों पर एक साथ लड़ा जाना चाहिए।

(2)

रामायण या 'मानस' हमारे सामने दृढ़ता और संघर्षशील चरित्र का सूत्र प्रस्तुत करता है। बख्तियार खिलजी जब गौड देश पर चढ़ आया तो राजा लक्ष्मण सेन को गीतगोविन्दकार जयदेव ने यही उपदेश दिया—"महाराज, भगवान् की इच्छा! आप यवन को पराजित नहीं कर पायेंगे, अतः लोहा लेना व्यर्थ है। परम शान्ति के आश्रय भगवान् की शरण में जाइये!" पता नहीं यह किंवदन्ती कितनी सत्य है। पर जयदेव की जगह तुलसीदास होते तो कहते—"महाराज, रामचन्द्र का स्मरण करके मैदान में उतरिये! आपका समर रामचन्द्र स्वयं करेंगे।" तुलसी के मन का विषाद श्रीनाथजी की मूर्ति के सम्मुख पढ़े गये उनके दोहे में व्यक्त होता है—"कहा कहौं छबि आज की भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष-बाण लेउ हाथ!" धनुष-बाण से भी पहले जरूरी होता है चरित्रगठन। अतः 'मानस' हमारे सामने शीलाचार और भूमा का दर्शन लेकर उस चरित्रगठन का आदर्श प्रस्तुत करता है रामचन्द्र के चरित्र के माध्यम से। काव्य के माध्यम से सारी जाति को नैतिक प्रशिक्षण का कार्यक्रम चलता है। तुलसीदास और समर्थ गुरु रामदास दोनों शक्ति के उपासक थे। तुलसी विश्वेश्वर और भवानी के उपासक थे। वास्तव में 'मानस' वैष्णवकाव्य होते हुए भी 'शक्ति-काव्य' है। शैवागम तंत्र ग्रन्थों की शैली में भवानी प्रश्न करती हैं और शिव उत्तर देते हैं। और तांत्रिक ग्रन्थों से ली गयी यह विधा इस बात का संकेत करती है कि 'मानस' की प्रत्येक चौपाई मंत्र-शक्ति-सम्पन्न करके लिखी गयी है। हम 'मानस' की चौपाइयों द्वारा तांत्रिक षट्कर्म करने की बात को भले बेवकूफी मानें (और यह बेवकूफी है भी) परन्तु तुलसी की अभिव्यक्ति में मंत्रात्मक शक्ति जैसी प्रभावशीलता है और हमारे सामूहिक जीवन में उनका मानस 'भक्ति' के साथ-साथ 'शक्ति' का भी संचार करता रहा है तथा यह एक 'शक्ति'-काव्य है, इन बातों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उस घोर अवसादग्रस्त युग में आशा का अग्निबीज बटोरकर 'मानस' हमारे हृदय में भरोसा और प्रतीक्षा का भाव भरता है, पूरी जाति को प्रतीक्षा और धीरज दे जाता है कि "एक भरोसो, एक बल......" वाला भरोसा बड़ा भारी भरोसा है, अटूट भरोसा है। अभिव्यक्ति में मंत्र-शक्ति जैसी प्रभविष्णुता होने के कारण ही इस भरोसे पर हमारा विश्वास जम जाता है, हम टूटते नहीं, हमारा अन्तर पराजय स्वीकार नहीं करता। अन्य ऐतिहासिक संदर्भ में यह बात उतनी प्रभावपूर्ण नहीं होती पर 16वीं शती और उसके बाद के ऐतिहासिक संदर्भ में ठीक जो दवा अपेक्षित थी उसे ही यह काव्य दे गया और इसी से उसका असर राम-बाण की तरह हुआ। जब तक वह ऐतिहासिक संदर्भ चलता रहता है, तब तक इस काव्य को उस गरिमा से कोई हटा नहीं सकता। यद्यपि वह गरिमा आज कुछ ग्रहण-ग्रस्त सी लगती है, पर लुप्त नहीं हुई है, क्योंकि मेरी धारणा है कि वह मुगलकालीन ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भ अब भी आंशिक रूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में विद्यमान है, अब भी लड़ाई खत्म नहीं हुई है। पर आक्रमण की रीति और हथियार बदल गये हैं और नये योद्धा, नये सेनापति मैदान में उतर आये हैं। अतः मानस चतुर्शती-समारोह का अवसर मुझे दो बातें सोचने के लिए बाध्य करता है—

(1) क्या वह मुगलकालीन ऐतिहासिक संदर्भ, जिसमें पड़कर यह काव्य जातीय कल्पना को चुम्बक की तरह इतने जोर से खींच सका और जातीय मानस के केन्द्र में गुरु की तरह आसन मारकर बैठ गया और कमोवेश आज तक बैठा है, वह ऐतिहासिक संदर्भ, पूर्णतः नहीं तो अंशतः ही, आज भी जारी है?

(2) यदि वह ऐतिहासिक संदर्भ आज बदल गया है (या कल निश्चित रूप से बदल जायेगा) तो बदले ऐतिहासिक संदर्भ में 'मानस' की नयी भूमिका क्या होगी? बदले संदर्भ आने में इसके अन्दर निहित बोध-बीजों की कोई उपयोगिता होगी या नहीं?

हम प्रथम प्रश्न को लें। इस पर मतभेद की पर्याप्त गुंजाइश है और हम लोग सही बात कहने और स्वीकार करने में हिचकिचाहट का भी अनुभव करेंगे क्योंकि सत्य के साथ सौदाबाजी करते रहना हमारी राजनीति का एक विशिष्ट लक्षण रहा है और सौदा करने वाला सदैव पूर्णतः कटु सत्य से कतराता है। परन्तु मेरी समझ से तुलसीदास के समय भारतीय संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व का जो ऐतिहासिक रूप था, वह कमोवेश, अंशतः ही सही, पर आज भी पूर्णरूपेण अनुपस्थित नहीं। उस समय दो संस्कृतियों, भारतीय और फारसी संस्कृतियों, की (जो उन शताब्दियों में 'हिन्दू' और 'इस्लाम' की संज्ञा और वर्चस्व धारण किये हुये थीं) टकराहट थी। आज उसी के समानान्तर अभारतीय (फारसी) की जगह एक अन्य शक्ति ने ले ली है जिसका कोई एक नाम नहीं हो सकता, पर जो संदर्भ-भेद से पश्चिमी, अंग्रेजी, आधुनिक साइंटिफिक आदि (और कभी-कभी साम्यवादी) नामों से पुकारी जाती है जिसके तत्त्वों से भारतीय संस्कृति की टकराहट चल रही है और मध्ययुग की अपेक्षा अधिक वेग और आतंक के साथ संघर्ष जारी है। परन्तु यहाँ एक भेद भी है। आधुनिक सांस्कृतिक द्वन्द्व में आधा द्वन्द्व तो आन्तरिक या आत्मसंघर्ष का है। आधुनिक, पश्चिमी, अंग्रेजी, साइंटिफिक और साम्यवादी आदि संज्ञाओं से निहित जो तत्त्व हमसे टकरा रहे हैं वे सब के सब प्रतिकूल या शत्रुतत्त्व नहीं। कुछ तो हमारी जिजीविषा के माँग की पूर्ति करते हैं और एक सीमा तक यह शत्रु से लड़ाई न होकर अपने भीतर के रोग से लड़ाई की तरह है। परन्तु यह बात एक सीमा तक ही सही है। उसके बाहर नहीं। असाध्य रोग से प्राणरक्षा के लिए वारुणीपान कर लेना ठीक है। परन्तु अपने सारे संस्कारों को भूलकर स्वस्थ होने पर भी पियक्कड़ बने रह जाना और बात है। खतरा है कि कहीं दवा ही रोग से ज्यादा संहारक न हो जाय। उदाहरण के लिए, धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को लें। आज कोई भी व्यक्ति जो अपना विवेक खो नहीं चुका है, हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना नहीं कर सकता, विशेषतः भारत जैसे बहुवर्णी-बहुधर्मी देश में, और सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण भारत तभी शक्तिमान रहेगा जब सभी वर्णों और वर्गों की प्रतिभा का पूर्ण योगदान हो सके।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुसलमानों की बात छोड़ दें। उनके मुल्लाओं ने उनकी आत्मा पर स्वयं आरोपित 'बाहरीपन' का कवच ओढ़ा दिया है और स्वस्थ मानसिक विकास के लिए उन्हें आज नहीं तो कल उस कवच को फेकना ही है जैसा कि बाँगलादेश में हुआ है। पर उन्हें छोड़कर ईसाई, सिख, बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदाय हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी विशिष्ट प्रतिभा है जो अन्य सम्प्रदायों में नहीं है और उस विशिष्टता के शत-प्रतिशत उपयोग के लिए आवश्यक है कि 'भारत' को वे 'संयुक्तनिधि' के रूप में अनुभूत करें। जिसमें उनका बराबर सम्मानपूर्ण हिस्सा हो। इस दृष्टि से धर्म-निरपेक्षता जरूरी है। दूसरी बात यह कि बिना धर्मनिरपेक्षता के वैज्ञानिक दृष्टिभंगी और वैज्ञानिक चिन्ता-पद्धति का ठीक विकास नहीं होगा और कुछ गलत दावे, कुछ गलत विधि-निषेध, जो हमारे अंधविश्वासों की उपज हैं, हमारा कभी भी पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। अतः बाहरी समृद्धि और सुरक्षा तथा आन्तरिक बौद्धिक और आध्यात्मिक सुधार और पुनर्संस्कार के लिए भारत को धर्मनिरपेक्षता वरण ही करना है। यह तो समस्या का विकासात्मक पक्ष हुआ। पर इस 'धर्मनिरपेक्षता' के सिद्धान्त को हमारे राजनीतिज्ञों ने कितनी ईमानदारी से ग्रहण किया है? क्या व्यवहार में इसका अर्थ 'समदर्शिता' रहा है अथवा यह नयी 'सरकारी मदान्धता' या 'राजधर्म' का रूप ले रही है। व्यवहार में सर्वत्र यह 'हिन्दू-निरपेक्षता' और प्रकारान्तर से 'भारतीय निरपेक्षता' का रूप धारण कर रही है। ऐसा भय हो रहा है कि 50 वर्ष बाद 'हिन्दू' अपने को 'इण्डियन' कहेगा और शेष लोग 'मुसलमान' या 'ईसाई-सिख', ऐसा भय श्रीप्रकाश व्यक्त कर चुके हैं। कुछ इसी से मिलती-जुलती चिंता अन्य व्यक्तियों ने व्यक्त की है। जिनकी धर्म-निरपेक्षता के बारे में शंका नहीं हो सकती और जो कभी भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक-संघ या जनसंघ से सम्बन्धित नहीं रहे। डॉ० लोहिया तक ने 'सेक्यूलरिज्म' के राजनीतिक दुरुपयोग पर घोर चिंता व्यक्त की है। मैं यहाँ पर दो उदाहरण साहित्यकारों के कथनों के दे रहा हूँ क्योंकि श्री अरविंद की भाँति मेरा विश्वास हो चला है कि भारतीय राजनीतिज्ञों के पास 'आत्मा' नाम की वस्तु नहीं, वह सत्य के साथ भी सौदाबाजी की भाषा में बोलते हैं, अतः उनकी बातों का उद्धरण मैं देना नहीं चाहता हूँ।

"भारत का एक दुर्भाग्य सेक्यूलरिज्म भी है। इसका अर्थ असाम्प्रदायिकता नहीं है। अंग्रेजी के इस शब्द का प्रयोग आज जिस अर्थ में किया जाता है उससे असाम्प्रदायिकता का प्रचार नहीं होता। प्रचार उससे इस भाव का होता है कि मुसलमान मुसलमान है, और क्रिस्तान क्रिस्तान। मगर 'हिन्दू' हिन्दू नहीं, 'गैर-मुस्लिम' है। भारत में सेक्यूलर राज्य की दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान बराबर नहीं। और यह तो है ही कि अगर हिन्दू दूसरा विवाह करना चाहे तो उसे मुसलमान होना पड़ेगा। 'शिक्षाआयोग' ने सिफारिश की है कि बिना धार्मिक शिक्षा के देश की संस्कृति नहीं बचेगी, पर भारत सरकार अपने ही द्वारा स्थापित 'शिक्षाआयोग' के पथ पर अमल नहीं करना चाहती है। सेक्यूलरिज्म का गलत अर्थ में प्रयोग जवाहरलाल के जोर से बढ़ा और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और डॉ० राधाकृष्णन राष्ट्रपति होते हुए भी इस प्रवाह को रोक नहीं सके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फिर भी डॉ० राधाकृष्णन को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिये कि उन्होंने दो-एक भाषणों में खुलासा कर दिया कि सेक्यूलरिज्म का अर्थ धर्म-निरपेक्षता नहीं असाम्प्रदायिकता है।''—रामधारीसिंह 'दिनकर' (धर्मयुग, 14 सितम्बर, 1969)

''आज हमसे हमारी आधारभूत राष्ट्रीय चेतना छीनी जा रही है। कितनी विचित्र बात है कि जब पश्चिम के सारे मनीषी और विद्वान् इस बात को दबे हुए या घोषणात्मक रूप में मानते हैं कि भारत के पास स्पष्टत: ऐसी वैचारिक सम्पदा है जो सम्पूर्ण मानवता को दिशा-निर्देश कर सकती है लेकिन इसके विपरीत हमारे देश के नियामक बार-बार यह कहते हैं कि भारत के पास पश्चिम के समकक्ष कोई खड़ा होने लायक आधारभूत जीवन-दर्शन नहीं। इस नाते राष्ट्र की कल्पना जितनी अभारतीय हुई, उतनी ही उन नियामकों के लिए सुविधाजनक भी हुई। भाषा और भाव की दृष्टि से शासन राष्ट्रीय मानस से अछूता ही रहा। इसी कारण सर्वप्रभुता-सम्पन्न यह राष्ट्र विघटित और विच्छिन्न होने लगा। हम अपने इतिहास, परम्परा और संस्कृति तथा धर्म को अपशब्द कहने के लिए बाध्य किये जा रहे हैं। लेकिन राष्ट्रीय जीवन की परिकल्पना के लिए ये शब्द नियामकों के विरोध के बावजूद भी मूल्यहीन नहीं। यों इन्हें नयी 'खराद' की आवश्यकता हो सकती है और हमें यही करना है।''—नरेश मेहता

कहने का तात्पर्य यह है कि 'आधुनिक जीवनदर्शन' (पश्चिमी, अंग्रेजी, वैज्ञानिक, साम्यवादी, धर्मनिरपेक्ष आदि का अपने अन्दर समाहार करते हुए) और 'भारतीयता' के बीच की टकराहट एक सीमा तक तो हमारी जिजीविषा और युगधर्म की माँग है और वहाँ तक तो वह ठीक है। परन्तु इस प्रक्रिया को भारतीय राजनीति और विश्व-राजनीति के खिलाड़ी विकृत करने पर तुले हैं। आधुनिकता हमारी जिजीविषा की पूर्ति के स्थान पर हमारे भीतर मुमूर्षा (डेथविश) का संचार करने लग सकती है, इस बात का भी खतरा है। विदेशी संस्कृति को आज राजनीतिक संरक्षण धर्म के नाम पर नहीं, आर्थिक दर्शनों और राजनीतिक सुविधावाद के नाम पर सरकार दे रही है। मौलिक और आदर्शरूप में आधुनिकता और भारतीय जीवन में कहीं कोई भी विरोध नहीं। गणतंत्र, समाजवाद और सेक्यूलरिज्म न केवल भारत की मौलिक वेदान्ती स्वभाव के अधिक अनुकूल हैं बल्कि पुराने वर्णाश्रम धर्म से भी ज्यादा यह त्रिपाद आधुनिकता उसके स्वभाव के निकट पड़ती है। परन्तु भय है (और यह भय विगत दशकों के ठोस अनुभव पर आधारित भय है, अत: उपेक्षणीय नहीं) कि इस त्रिपाद 'आधुनिकता' का दुरुपयोग न होने लगे। उदाहरण के लिए गणतन्त्र 'आत्मा' के विकास का स्वतन्त्र वातावरण न होकर राजनीतिज्ञों का व्यभिचार हो जाय, जातिवाद-सम्प्रदायवाद पर आधारित बालिग मतों का जुआ मात्र हो जाय; अथवा समाजवाद 'अर्थ' तक ही सीमित न रहकर 'काम', 'धर्म' और 'मोक्ष' (साहित्य-दर्शन आदि) का भी नियन्त्रण करने का महत्त्वाकांक्षी हो उठे और अपने असली क्षेत्र 'अर्थ' और 'राजनीति' के बाहर आकर 'आत्मा' के मौलिक अधिकारों का हननकर्त्ता बन बैठे, अथवा 'धर्मनिरपेक्ष' या सेक्यूलरिज्म एक उदारता, सहिष्णुता तथा समदर्शिता का द्योतक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न होकर 'हिन्दू-तिरस्कार' और 'भारतीय-निरपेक्षता' बन जाय, अथवा वैज्ञानिक दृष्टिभंगी के नाम पर वह 'धर्म-निरपेक्षता' अनीश्वरवाद, नास्तिकता, शील-निरपेक्षता या भौतिकवाद की समर्थक हो जाय अथवा यह 'धर्मनिरपेक्षता' स्वयं 'सरकारी मतान्धता' और असहिष्णु राजधर्म में परिवर्तित हो जाय और हमें यह वही क्रूर यातना देने लगे जो 700 वर्ष तक इस्लाम और अंग्रेज देते रहे—यदि त्रिपाद आधुनिकता उपर्युक्त विकृत कोटियों में चली जाय, तो हम निश्चयपूर्वक कहेंगे कि 16वीं शती का मुगलकालीन युग अब भी चालू है, केवल नाम, रूप और सेनापति बदल गये हैं। यह स्थिति अभी काफी नहीं है और हम आशा करते हैं कि भारतीय राजनीतिज्ञ इतने मदोन्मत्त नहीं होंगे, तो भी विगत 25 वर्षों का कटु अनुभव हमें रह-रह कर शंकित कर देता है। बाँगलादेश के नेताओं ने इस 'त्रिपाद आधुनिकता' के खतरे को प्रारम्भ में ही अनुभूत कर लिया है क्योंकि उनके सोचने, अनुभव करने का माध्यम शुद्ध देशी भाषा और देशी संस्कार है। इसी से उन्होंने चौथा सूत्र भी उसमें जोड़ा है और वह है 'राष्ट्रीयता' जिसका अर्थ होता है 'बंगालीपन' परन्तु हमारे अन्दर इस सूत्र का अर्थ 'भारतीयता' कहने का भी साहस नहीं। उन्होंने राष्ट्रीयता को आधुनिकता के पूरक के रूप में देखा है और हमने प्रतिद्वन्द्वी रूप में। हम 'भारतीयता' के प्रति शंकालु हैं।

भारतीय सभ्यता और इतिहास इस 20वीं शती के उत्तरार्ध में आकर कोई सादा पन्ना नहीं है जिस पर कोई भी, चाहे वह वाणासुर-सहस्राबाहु ही क्यों न हो, चाहे वह गाँधी-नेहरू ही क्यों न हो, इस पर अपना हस्ताक्षर करके अपने को 'फ़ादर ऑफ़ नेशन', 'मदर आफ नेशन', 'राष्ट्रपिता', राष्ट्रमातृका आदि-आदि कहकर चालू करने की कोशिश करे या अपने को विष्णु का नया अवतार कहकर प्रचारित करे। चाटुकारिता, वाङ्मय के भीतर सबसे बड़ी अश्लीलता है और मैं इन शब्दों को अश्लील शब्द मानता हूँ। इतिहास इन नये ईश्वरों को कितनी देर तक ईश्वर कहता रहेगा जिनका 'बिस्मिल्लाह' ही गायब है? अकबर बादशाह ने भी अपने जीवनकाल में अपने ही को पैगम्बर घोषित करके खुतबा पढ़वाया था पर आज वह मात्र महापुरुष रहकर ही स्वीकृत है, जो दरअसल वह था। गाँधी और नेहरू ने तो अपने को स्वयं 'अवतार' रूप में कभी प्रस्तावित नहीं किया और नेहरू ने तो कुछ चाटुकारों को इस बात पर डाँटा भी था। नेहरू ने तो अन्तिम सन्देह में इस देश के अतीत-वर्तमान-भविष्य तीनों का समान रूप से, पर 'स्वस्थ' बुद्धि से, वरण किया है तथा 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' या अन्य ग्रन्थों में स्पष्टतः लिखा है कि भारतीय सभ्यता-संस्कृति इतिहास को धोकर सादे पन्ने के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु नेता चाहें या न चाहें, एक वर्ग बड़ी शक्ति और तेजी से छद्म नामों को धारण करके 'आधुनिकता' का आश्रय लेकर 'त्रिपाद आधुनिकता' को विकृत करता रहा है, उसे अपने स्वार्थ के अनुकूल ऐंठन देता रहा है, उसे भारतीयता के प्रतिकूल करता रहा है, अंग्रेजी पत्रों के माध्यम से, मिशनरियों के माध्यम से, विदेशी दूतावासों द्वारा पोषित जीवन-दर्शनों और राजनीतिक मतों के माध्यम से। भारतीय जीवन में व्याप्त जड़िमा और मोहमूढ़ता (जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधुनिक पाठ्यक्रम और आधुनिक साहित्य द्वारा पोषित होती है) और आत्मविस्मृति का दुरुपयोग कर और अन्य सुविधायें ले-लेकर यह वर्ग बड़ी तेजी से अंतर्ध्वंस करता रहा है, और इस वर्ग की बढ़ती शक्ति को देखकर भय होता है कि कहीं यह त्रिपाद आधुनिकता वही क्रूर भूमिका न ग्रहण कर ले, जो मुगलकाल में इस्लाम का छद्म चेहरा लगाकर फारसी-संस्कृति ने ग्रहण की थी। ऐसी अवस्था में 'रामचरितमानस' हमारा रक्षक होगा, उसकी 'रक्षक' की भूमिका तीव्रतर संघात पाकर अधिक प्रबल हो उठेगी। 'रामायण', 'महाभारत' और 'श्रीमद्‌भागवत' इन तीनों ग्रन्थों के प्रभाव को सम्पूर्णतः नष्ट करके ही कोई हमें शत-प्रतिशत भारतीयता-विहीन कर सकता है और इन तीनों में सर्वाधिक निकट और सर्वाधिक सटीक एवं जन-सुलभ है रामायण का हिन्दी-संस्करण 'रामचरितमानस'। परन्तु यह महाग्रन्थ 'रक्षक' की भूमिका तभी निभा पायेगा जब इससे हम अपने को संयुक्त रखें। रोगी और दवा से भेंट ही नहीं होगी तो दवा का असर कैसे होगा? मंत्र, देवता, और ग्रन्थ तो सूक्ष्म शैली में सक्रिय रहते हैं और उनकी प्रभविष्णुता हमारे और उनके बीच सम्पर्क की घनिष्ठता पर निर्भर करती है। धर्म और वाङ्मय हमारी रक्षा तभी करेंगे जब वे हमारे चरित्र के भीतर विद्यमान हों, और यह बिना घनिष्ठ सम्पर्क के संभव नहीं, अतः उक्त सांस्कृतिक खतरे को, जिसकी शंका हमने व्यक्त की है, देखते हुए 'रामचरितमानस' से अपनी हिन्दुस्तानी जाति का सम्पर्क घनिष्ठतर करना, और वर्तमान सम्पर्क को क्षीणतर न होने देना हमारी जिजीविषा की, हमारे जीवित बचे रहने की एक आवश्यक शर्त है और 'मानस चतुर्शती समारोह' इस तथ्य की चिन्ता करने का एक अच्छा अवसर है।

हम आशा करते हैं कि भारत की वर्तमान राजसत्ता इतनी मदांध नहीं होगी क्योंकि इसकी कुलीनता तिलक, गाँधी से आती है और इसके अतीत के प्रधान स्तम्भ जवाहरलाल नेहरू अनीश्वरवादी थे, पर नास्तिक नहीं थे और धर्म के भास्वर प्रभामय रूप से उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। ऐसा नहीं होता तो वे स्तालिन बन गये होते। नास्तिकता असुर-दर्शन है और बहुत जल्दी यह अधिनायकवादी रूप धारण कर लेती है। पर आस्तिक अधिनायक भी मूलतः गणतांत्रिक वृत्ति का ही रहता है क्योंकि आत्मा और आत्मिकता के मूल्यों को वरण कर लेने के बाद (जो आस्तिकता की शर्त है) कोई भी 'आत्माभक्षी' रूप धारण नहीं कर सकता है और 'आत्मा-भक्षी' ही अधिनायक या तानाशाह बन सकता है, अन्य नहीं। अतः हम कल्पना करते हैं कि वर्तमान दशक के बौद्धिक वैचारिक कुहरे के साफ हो जाने पर त्रिपाद आधुनिकता (गणतन्त्र समाजवाद-सेक्यूलरिज्म) अपने 'पाजिटिव' आदर्श-सम्मत रूप में विकसित होगी; और 'आत्मा' अर्थात् 'व्यक्ति' की गरिमा और स्वातंत्र्य को स्वीकृत करने वाला गणतन्त्र 'बहुजन हिताय' समाजवाद, और समदर्शी धर्म-निरपेक्षता का वरण करेगा; तथा देश की देह का रूपान्तर नये साइंस द्वारा तथा देश के मनस का पुनर्जन्म सनातन वेदान्त के माध्यम से घटित होगा। यदि यह कृतु-युग का सुखमय स्वप्न इतिहास में अगले दशकों में सत्य उतरता है तो उस परिवेश में 'रामचरितमानस' की क्या उपयोगिता होगी?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसे परिवेश में 'असुर' और 'माया' का नाम नहीं रहेगा, तो इस असुर-निकन्दन माया-खण्डन महाकाव्य की क्या भूमिका होगी? उसकी 'रक्षक'-भूमिका की क्या तब आवश्यकता होगी? क्या बदले हुए त्रिपाद आधुनिकता के आदर्श संदर्भ में भी इस काल की कोई जरूरत या आवश्यकता है? ये सब चिन्ताएँ हमारे दूसरे प्रश्न से सम्बद्ध हैं जिन्हें हमने निबन्ध के प्रारम्भ में ही उठाया है।

जिस प्रकार धर्म की दो भूमिकाएँ होती हैं 'धारक' और 'रक्षक' की, उसी भाँति 'मानस' की भी दो भूमिकाएँ हैं 'धारक' और 'रक्षक' की, क्योंकि 'मानस' रामचन्द्र का स्वरूप है और राम स्वयं मूर्तिमान धर्म हैं। इसलिए यह महाग्रन्थ 'गीता' 'कुरान' की श्रेणी में चला गया है। सांस्कृतिक टकराव और संघर्ष के मध्य इसकी भूमिका रक्षक की रही है। और यदि गणतन्त्र समाजवाद-सेक्यूलरिज्म के साथ चौथा सूत्र राष्ट्रीयता जुड़ जाय और ये अपने आदर्शरूप में प्रतिष्ठित होकर संविधान द्वारा सुचिन्तित सत्ययुग ला सकें (यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मैं आशावादी नहीं) तो फिर 'माया' और 'असुर' के अभाव में इसकी 'रक्षक' भूमिका की तो जरूरत नहीं रहेगी, यह सत्य है। परन्तु तो भी उस काल में इसकी 'धारक' भूमिका का महत्व अक्षुण्ण रहेगा। यह महाकाव्य धर्म की तरह हमारे समस्त जीवन को 'आधार बनकर धारण' करने की क्षमता रखता है। किसी भी राज्य-व्यवस्था या धर्म-व्यवस्था के अन्दर यह बासी और उपयोग-रिक्त नहीं हो सकता। मैं यह बात जरा स्पष्ट करना चाहता हूँ। 'समाज', 'राष्ट्र' आदि भाववाचक संज्ञायें हैं। ये शब्द-संज्ञायें हैं। परन्तु 'व्यक्ति' और 'परिवार' शब्द-संज्ञायें नहीं, वे सगुण-संज्ञायें हैं और उन्हें 'कंक्रीट' ठोस संज्ञा के हिसाब से अनुभूत किया जा सकता है। किसी भी समाज-व्यवस्था या शासन-व्यवस्था में आदर्श व्यक्ति (अर्थात् आदर्श पिता, आदर्श भाई, आदर्श पत्नी, आदर्श सेवक आदि) और आदर्श परिवार की रचना की जरूरत पड़ेगी। कोई भी समाज बिना 'उत्तम व्यक्ति' और 'उत्तम परिवार' के साथ चल नहीं सकता—भले ही वह कम्युनिस्ट समाज क्यों न हो ('सुपर कम्युनिस्ट समाज' की बात एक स्वैराचार मात्र है और बन्धनहीनता के माध्यम से स्थायी समाज नहीं गढ़ा जा सकता)। ऐसी अवस्था में वह कौन सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, समूचे विश्व-साहित्य के अन्तर्गत, जो हमें भाई-भाई के बीच, पिता-पुत्र के बीच मित्र-मित्र के बीच, शत्रु-मित्र के बीच, पति-पत्नी के बीच, शत्रु-शत्रु के बीच सर्वोत्तम व्यवहार की शिक्षा दे सकता है? वह ग्रन्थ गीता, कुरान, बाइबिल नहीं रामायण है। गीता-कुरान-बाइबिल में और बड़ी-बड़ी बातें हैं। कई संदर्भों और अर्थों में रामायण से उनका महत्व ज्यादा है। पर उपर्युक्त उद्देश्य के लिए रामायण या 'रामचरितमानस' जितना उपयुक्त ग्रन्थ ठहरेगा, उतना उपयुक्त ग्रन्थ कोई नहीं। उपर्युक्त सामाजिक, पारिवारिक व्यवहार-सूत्रों और सम्बन्ध-सूत्रों की सहजता और पवित्रता पर ही कोई भी समाज टिका रह सकता है, चाहे वह समाज हिन्दू-ईसाई-मुस्लिम समाज हो, या समाजवादी हो या कम्युनिस्ट हो। नाम-ठप्पा जो चले पर व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध और व्यक्ति-परिवार के सम्बन्ध सहज पवित्र और सुगठित न रहने से वह दो दिन में ताश के घर की तरह ढह जायगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सभ्यता आज सादा पन्ना नहीं है कि परिवार को मिटाकर सामूहिक पत्नीत्व या मुक्ताचार जारी करेंगे। ये सब दार्शनिकों की यूटोपिया हैं। अब हम पुनः पशु होना भी चाहें तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बात असंभव है। अर्थव्यवस्था और समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो भी जाय तो भी 'व्यक्ति' और 'परिवार' रहेंगे और उपर्युक्त सम्बन्ध सूत्रों की सहजता-पवित्रता की आवश्यकता अनिवार्यतः रहेगी। और यदि यह बात ठीक है तो यह भी उतनी ही ठीक है कि 'रामचरितमानस' की 'धारक' भूमिका भविष्य के किसी भी सत्ययुग में (भले ही समाजवाद और धर्म-निरपेक्षता का ही सत्ययुग क्यों न हो) आज की ही तरह महत्वपूर्ण रहेगी। 'रामचरितमानस' कभी भी महत्व-रहित और बासी नहीं होगा। रामायण कभी भी मृत नहीं हो सकता और उसका संस्करण 'रामचरितमानस' भी। इसकी 'थीम' व्यक्ति और 'समूह' के मन के उन मूलभूत तत्त्वों पर स्थित है जो सनातन महत्व रखते हैं। विधाता द्वारा वाल्मीकि को दिया गया आशीर्वाद तुलसी पर भी लागू होता है।

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

मैथ्यू अर्नाल्ड ने एक जगह धर्म-विश्वास को 'चर्च' की अपेक्षा 'कला' का सहारा लेने का सुझाव दिया है क्योंकि चर्च के कल्प (रिचुअल्स) और उसकी भाषा दोनों नये विज्ञान (साइंस) के उदय के कारण मात खा गये। धर्म-विश्वास का वास्तविक केन्द्र 'चर्च' नहीं मनुष्य की कल्पना-शक्ति (कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा) है। कल्पना ही वह जबर्दस्त 'रोम' है, वह अदृश्य 'काशी' है जिसे कोई शैतान, कोई शाहंशाह पददलित नहीं कर सकता। 'बुद्धि' अर्थात् 'युक्ति-प्रधान-बुद्धि' तो विज्ञान का गढ़ है परन्तु उससे अधिक शक्तिशाली गढ़, शतप्रतिशत 'अयोध्या' पुरी है 'कल्पना' जो सहजानुभूति, प्रातिभिज्ञान और कारयित्री भावयित्री प्रतिभा का निधान। इसी से यह 'अयोध्या' और अभेद्य है। कल्पना का सगुण अवतरण होता है कला साहित्य में। मैथ्यू अर्नाल्ड सोचता है कि धर्म-विश्वास की रक्षा 'कल्पना' के माध्यम से होगी अर्थात् कला-साहित्य के माध्यम से होगी। भारतवर्ष में यही काम महाकाव्यों के जन्म के समय से ही किया जा रहा है। यहाँ पर 'चर्च' नहीं गठित किये गये, बल्कि 'चर्च' का मूल 'कल्पना' को ही पकड़ा गया। वैष्णव आन्दोलन के समय या इसके पूर्व भी भारतीय चिन्ता यही करती आयी है। प्रवाद है कि ब्रह्मसूत्रों और महाभारत-पुराण आदि रचकर भी वेदव्यास ने अनुभव किया कि असल काम शेष ही रह गया है और उन्होंने असल काम को पूरा किया—सभी का निचोड़ अपनी शुद्ध कल्पना-प्रधान-काव्यकृति 'श्रीमद्भागवत' लिखकर। ब्रह्मसूत्र और महाभारत हमारी बुद्धि को सम्बोधित करते हैं पर श्रीमद्भागवत हमारी कल्पना को। श्रीमद्भागवत धर्म-विश्वास की 'शुद्ध कविता' (प्योर पोयट्री) है। 'कल्पना' पर इतनी जबर्दस्त पकड़ होने के कारण ही इस्लाम के सर्वग्रासी तूफान में भी यह धर्म-विश्वास का महामहीरुह उखड़ा नहीं, अचल रह गया। तुलसी का 'मानस' भी ठीक इसी श्रीमद्भागवत के समानान्तर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्य है। बल्कि तुलसी ने इसमें और कुछ जोड़ा है। श्रीमद्भागवत की कथन-भंगिमा, उसकी 'सजल' एवं ललित शैली, उसकी डबडबायी आँखों वाली काव्य-प्रकृति के साथ उन्होंने पौरुष और चरित्र की दृढ़ता को जोड़ा। 'राघवः करुणोरसः' के इस करुण रस के काव्य में उन्होंने वज्रोपम दृढ़ मन को स्थापित किया है। कुसुम और वज्र का यह अपूर्व समन्वय है। इसी से यह 'धारक' और 'रक्षक' दोनों की भूमिका निभाता है। इसकी पकड़ औरों की अपेक्षा अधिक गहरी है क्योंकि यह कल्पना के साथ-साथ सामान्यबुद्धि (कामन सेन्स) और 'प्रज्ञा' को भी खींचता है। आज राजनीति महत्वाकांक्षी हो उठी है। आज पार्टी और सरकार के दलालों द्वारा प्रतिबद्धता का नारा दिया जा रहा है। परन्तु प्रतिबद्ध का वे मतलब लगाते हैं उनके पार्टी-प्रोग्राम के प्रति प्रतिबद्धता, भले ही प्रोग्राम नाजी 'प्रोग्राम' या कम्युनिस्ट 'पंर्ज' (शुद्धिकरण) ही क्यों न हो। 'बुद्धि' को अर्थशास्त्र और राजनीति द्वारा मुष्टिगत कर लेने के बाद 'कल्पना' को भी प्रतिबद्ध करना साहित्य द्वारा मुट्ठी में करना, ये अति आवश्यक मानते हैं क्योंकि 'कल्पना' के भीतर वज्र छिपा है और ये उससे डरते हैं। इसी से आज 'कल्पना' के अपहरण की तैयारी है। आँख खोलकर देखें तो पता चलता है कि साहित्य का बहिष्कार चल रहा है। आज साहित्य का अर्थ होता है पत्रकारिता या सांवादिकता। आज कविता-कहानी के नाम पर पार्टीतंत्र का प्रचार-साहित्य ही प्रतिबद्ध-साहित्य कहकर पाठकों को परोसा जा रहा है जिससे उनकी रुचि और स्वाद का इतना प्रशिक्षण हो जाय कि वे शुद्ध 'आनन्द', शुद्ध 'कल्पना', 'काव्यानन्द' का अनुभव करने में ही अक्षम हो जायँ और तब ईश्वर का यह अंतिम गढ़ यह 'अयोध्या' दुर्ग बड़ी आसानी से दखल किया जा सकेगा। मैं भारत नहीं समस्त विश्व के राजनीतिज्ञों की बात कह रहा हूँ विशेषतः सेक्यूलर समाजवादी राजनीतिज्ञों की। उनके मन में चोर छिपा है। जिस अनीश्वरवाद और नास्तिकता का आरोपण वे सीधे-सीधे नहीं कर सके, उसे प्रोग्रेसिव, सेक्यूलर, प्रतिबद्ध आदि अस्पष्ट शाब्दिक घपलेबाजी के द्वारा वे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इसके लिए जरूरी होगा 'कल्पना' के पंख काट डालना या उसकी गर्दन मरोड़ कर उसे खतम कर देना। तब बड़ी आसानी से एक ही आकृति में ढला हुआ सपाट 'मानोलिथिक' साहित्य तैयार करवाया जायगा और मनुष्य का नये फार्मूले के अनुसार मानसिक रूपान्तर किया जायगा। भारतवर्ष में यह सब अभी नहीं हुआ है पर इन सबकी दबी चर्चा अँधेरे में हो रही है, जो बाहर भी सुनाई पड़ जाती है। अत्यन्त खेद की बात है कि जहाँ समाजवादी शासन-व्यवस्था है वहीं पर यह काम अत्यन्त निर्लज्जतापूर्वक किया गया है, वहीं पर राजनीति अधिक सत्तामदांध हो उठी है, वहीं पर मनुष्य 'मुक्त' न होकर 'हीन' बना है। सिद्धान्ततः जो बघारा जाय, व्यवहारतः समाजवादी देशों में मनुष्य की 'साधना' और 'कल्पना' को क्रूरतापूर्वक अवरुद्ध किया गया है और नयी पीढ़ी में उन देशों में 'साधना' और 'कल्पना' के महत्व को 'समझने की क्षमता' या समझ-शक्ति भी नहीं रही है। हम भी समाजवाद की शपथ ले चुके हैं। अतः हमारा कल और परसों भय से मुक्त नहीं। और उस समय के लिए 'मानस' जैसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थों से अपने सम्पर्क को निविड़ रखना 'आत्मा' की रक्षा के लिए अति आवश्यक होगा। "जेहिं राखे रघुवीर सो उबरे यहि काल मँह।" मुझे तो हर तरह से चाहे जैसा भी वर्तमान और भविष्य सम्मुख आवे, हर स्थिति में 'मानस' एक अमोघ भरोसे के रूप में ग्राह्य है।

खेद है कि मैं कुछ कह पाया नहीं, सिवा अपनी व्यथा और शंका व्यक्त करने के। मैंने जो कुछ यहाँ लिखा है या कहीं भी लिखा है वह एक आर्त्तनाद है। अतः कितना अरण्यरोदन किया जाय? लेख लम्बा हो रहा है। मेरे मन में इस संदर्भ में कुछ प्रस्ताव हैं। उनका निरूपण करके अपनी बात समाप्त करता हूँ। इन प्रस्तावों के कार्यीकृत होने के प्रति स्वयं बहुत आशावादी नहीं हूँ। तो भी अपनी बात सबके सामने रखता हूँ। पहली बात है 'मानस' की मूल थीसिस की रक्षा करते हुए अल्प संशोधन। दूसरी बात है, बुद्धिजीवियों के संदर्भ में, 'मानस' की विविध दृष्टियों का व्याख्या-विश्लेषण और परीक्षण। तीसरी बात है, जनसाधारण के संदर्भ में, 'रामचैत्य' या रामचबूतरा-आन्दोलन का सूत्रपात और उसके माध्यम से जन-साधारण को नैतिक-सांस्कृतिक प्रशिक्षण का कार्य।

'मानस' का संशोधन

'मानस' के नैतिक ढाँचे में समकालीन युगधर्म और सनातन धर्म दोनों के ताने-बाने हैं क्योंकि कोई भी महान् कृति समसामयिकता को अतिक्रान्त करके सार्वभौम मूल्यों पर ही आधारित होती है, तो भी उसमें युगधर्म या समसामयिकता पूर्णतः अनुपस्थित नहीं होती और प्रत्येक साहित्य-कृति कहीं न कहीं जाकर समसामयिकता का भी दर्पण अवश्य बन जाती है। मानस बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में सम-सामयिकता का दर्पण हो उठा है। बिना सार्वभौम सार्वकालिक 'थीसिस' के उसका महत्व स्थायी नहीं हो सकता और बिना समसामयिकता का युगधर्म के उसमें अनुभूति-गत ईमानदारी नहीं आ सकती। तुलसी के 'मानस' में युगधर्म और समसामयिकता दो बातों में व्यक्त हुए हैं—प्रथम तो वक्रोक्ति द्वारा मुगलशासन के विकारों का संकेत (बालकाण्ड) और दूसरा वर्णाश्रमधर्म का आलोचनात्मक सुधारवादी चित्र (उत्तरकाण्ड)। प्रथम का सम्बन्ध युग-इतिहास से है और दूसरे का युग-धर्म से। युगधर्म अर्थात् वर्णाश्रम धर्म का समर्थन तुलसी की 'मूलथीसिस' नहीं। क्योंकि युगधर्म 'स्मृति' पर आश्रित है और 'स्मृति' परिवर्तनशील शास्त्र है। उनकी 'मूलथीसिस' है रामचन्द्र को मूर्तिमान धर्म के रूप में चित्रित करना अर्थात् उनके माध्यम से 'सार्वभौम सार्वकालिक धर्म' अर्थात् 'सनातनधर्म' की व्याख्या। 'सनातन धर्म' श्रुति पर आधारित है और 'श्रुति' (अर्थात् वेदत्रय—ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद्) अपरिवर्तनशील धर्मों का उपदेश करती है। 'वर्णाश्रम धर्म' और 'सनातनधर्म' दो चीजें हैं। प्रथम परिवर्तनशील स्मृति द्वारा व्यक्त किया गया है, दूसरा सनातन सार्वभौम श्रुति द्वारा। क्या खाओगे, क्या पहनोगे, किससे विवाह करोगे, ये सब देशकाल के अनुसार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिवर्तनीय है अतः यह स्मृति के विधान हैं। पर 'सच बोलो' यह वाक्य किसी भी देशकाल में अपरिवर्तनीय है—अतः यह 'श्रुति' है। खेद की बात है कि कर्मकाण्डी पुरोहितों द्वारा देश के वाङ्मय और चिन्तन पर अपने एकाधिकार का दुरुपयोग किया गया और उन्होंने इतना जबर्दस्त प्रचार कर दिया है कि अब यह अनुभव करना कठिन हो गया है कि 'वर्णाश्रमधर्म' और 'सनातनधर्म' दो तरह की चीजें हैं। वर्णाश्रम धर्म उनके लिए है जिनको षोडष हिन्दू संस्कार दिये गये हैं। पर सनातन धर्म क्या हिन्दू, क्या सिक्ख, क्या ईसाई-मुसलमान सबके लिए हैं, जो चाहे इसका वरण करे। मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म वर्णाश्रम धर्म है, परन्तु वासुदेव कृष्ण द्वारा प्रतिपादित धर्म, सृष्टि के आदि पुरुष नारायण द्वारा सारे विश्व के लिए प्रस्तुत धर्म 'सनातन धर्म' है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के 11वें अध्याय में नारद ने युधिष्ठिर को इस धर्म की शिक्षा दी है। भगवान् नारायण ने बदरिकाश्रम में 'सनातनधर्म' के तीस लक्षणों का वर्णन महर्षि नारद को सुनाया था। वे लक्षण हैं— (1) सत्य (2) दया (3) तप (4) शौच (5) तितिक्षा (सहनशक्ति) (6) ईक्षा (अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से किसी बात पर सम्यक् विचार करना) (7) शम (8) दम (9) अहिंसा (10) ब्रह्मचर्य (11) त्याग (12) स्वाध्याय (13) आर्जव (सीधापन) (14) संतोष (15) समदर्शिता (16) सेवाभाव (17) ग्राम्य (18) मनुष्य को उनके प्रयत्नों के विपरीत फल मिलता है ऐसा बार-बार चिन्तन (19) मौन (20) आत्मचिन्तन (21) सब प्राणियों को समुचित भाग देना (22) सर्वभूतों में विशेषतः मनुष्यों में प्रभु इष्टदेव का निवास मानना, अर्थात् ईश्वर को चराचर रूप में अनुभूत करना (23) श्रवण (24) कीर्तन (25) स्मरण (26) प्रभु-सेवा (पूजन) (27) नति (नम्रता) (28) दास्यभाव (29) सख्यभाव (30) आत्म-समर्पणभाव। (अन्तिम छः का सम्बन्ध भगवद्-भक्ति से है—शेष 24 गुण व्यक्तिगत शीलाचार से सम्बन्धित हैं।) मूलश्लोक (8-12) इस प्रकार हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव
श्रवणं कीर्त्तनंचास्य स्मरणं महतां गतेः
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्
नृणामयं परोधर्मः सर्वेषां समुदाहृतः
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मायेन तुष्यति।

इन श्लोकों से पूर्ववर्ती श्लोकों में इस धर्म के लिए ही भागवतकार ने 'सनातन धर्म' की संज्ञा दी है। इन मूल श्लोकों में व्यक्त तीस लक्षणों में जाति-वर्ण का कहीं भी संदर्भ नहीं। हिन्दी टीका करते हुए कुछ पण्डितों ने एकाध संस्करणों में अपनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ओर से अवश्य जाति–वर्ण आदि को घुसेड़ा है। पर असल श्लोकों में यह सब कहीं नहीं। भागवत ही नहीं सारे वैष्णव ग्रंथों में सनातनधर्म का ही प्रतिपादन है, वर्णाश्रम धर्म का नहीं। सनातनधर्म 'आचरण' या 'चरित्र' पर आधारित है, 'जन्म' पर नहीं। गोस्वामी तुलसीदास के महाकाव्य 'रामचरितमानस' की 'मूलथीसिस' है सनातन धर्म और रामचन्द्र ही मूर्तिमान सनातन धर्म हैं, जो जाति–पाँति के बंधन तोड़कर निषाद का आलिंगन करते हैं और शबरी के जूठे बेर खाते हैं। 'मानस' मूर्तिमान सनातन धर्म श्रीरामचन्द्र के चरित्र का मानस–सर है।

आज 20वीं शती के पाठक को 'मानस' में कुछ ऐसी बातें मिल जाती हैं जो खटकने वाली हैं, जो अन्याय या कपट–सी लगती हैं और ऐसे पवित्र ग्रंथ के अन्दर वे कलंक–सी हैं। 'मानस' की गरिमा के उपयुक्त वे चौपाइयाँ नहीं। वे मानस की 'मूलथीसिस' के आकर्षक को क्षुण्ण करती ज्ञात होती हैं। वे चौपाइयाँ जिनकी संख्या महज एक दर्जन है 'रामचरितमानस' की 'मूलथीसिस' नहीं बल्कि समसामयिक युग–धर्म–जनित हैं। वह समसामयिक संदर्भ आज नहीं रहा और उन महज एक दर्जन चौपाइयों को निकाल देने से मानस के काव्यत्व और श्रुतित्व को या उनकी 'मूलथीसिस' को अणुमात्र भी हानि नहीं होगी, बल्कि वे अधिक प्रकाशमान हो उठेंगे। आज के युग–धर्म का सामाजिक दर्शन वर्ण–जाति–निरपेक्ष है। अतः आज के युगधर्म में दीक्षित व्यक्ति को वे एक दर्जन चौपाइयाँ कटु लगेंगी तथा उसमें अश्रद्धा का संचार करेंगी। आज का हिन्दू धर्म भी व्यवहारतः और सिद्धान्ततः वही नहीं है जो 16वीं शती में था। वह ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, गाँधीवादी आन्दोलन, नव्यमानववाद, नया साइंस और पश्चिम के सम्पर्क के दबाव में पड़कर बहुत भिन्न हो चुका है। इस वास्तविकता से आँखें मूँदना और इसे न देखने का स्वांग करना एक आत्मघाती प्रक्रिया है। आज हमारे सामने 'मानस' में कम होती श्रद्धा को पुनः तीव्र और प्रभावकारी करने का प्रश्न है। और हमारे सामने दो सवाल हैं। 'मानस' की मूलथीसिस 'सनातनधर्म' की रक्षा करने के लिए सिर्फ एक दर्जन चौपाइयों को अस्वीकार कर दिया जाय? अथवा उन सिर्फ एक दर्जन चौपाइयों की ताबीज इसके गले में बाँधकर इसकी सम्पूर्ण सत्ता को ही प्रश्नचिह्न और अश्रद्धा का पात्र बनाया जाय? कुछ लोग कहेंगे कि इससे तुलसी का मौलिक रूप या ऐतिहासिक रूप खण्डित होगा। परन्तु तुलसी या उनके काव्य के मौलिक या ऐतिहासिक रूप में दिलचस्पी एक मुट्ठी शोधकर्त्ताओं और पण्डितों की होगी। उनकी इस सुविधा से बड़ा प्रश्न है 'मानस' की सनातन गरिमा की रक्षा का तथा 'मानस' के माध्यम से समस्त भारतवर्ष के नैतिक आध्यात्मिक पुनर्जन्म का, 'मानस' की 'धारक'–भूमिका के हीन न होने का। और इस कार्य के लिए कहीं भी 'त्रुटि' या 'कलंक' हो तो उसका निराकरण करना आवश्यक है।

तुलसी ने स्वयं इन चौपाइयों को प्रासंगिक रूप से लिखा है। एक घोर विद्रोह तो उन्होंने भाषा के स्तर पर किया ही जिसके लिए कर्मकाण्डी पुरोहितों द्वारा अत्यन्त सताये भी गये। ऊपर से और नया विद्रोह वर्णाश्रम के विरुद्ध करते, तो उनकी वही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गति होती, जो कबीर की हुई। कबीर 20वीं शती के उपयुक्त थे। वे अपने युग में खप नहीं सके। फलतः कबीर की सारी सच्चाई काम नहीं आयी—उनकी चली नहीं। कबीर की जैसी ही गति तुलसी की भी होती या उससे खराब भी हो सकती थी क्योंकि उनका तो कोई भी मठ नहीं था, शिष्य-परम्परा भी नहीं थी। सत्ताधारी वर्ग पुस्तक को नष्ट कर देता। उन दिनों उनके इने-गिने मित्र थे। मधुसूदन सरस्वती का संरक्षण मिला, तो उन पर होते हुए अत्याचारों में कमी हुई। इनके दूसरे मित्र थे काशी के भूमिहार ब्राह्मण गृहस्थ टोडरमल, जिन्हें अपने वैष्णव प्रेम के ही कारण शैव गोसाइयों के क्रोध का भाजन बनना पड़ा, और किंवदन्ती है कि उन्हें खड्ग से गोसाइयों ने काट डाला। तुलसीदास ने वर्णाश्रम के विकारों को जानबूझकर अस्वीकार नहीं किया है। क्योंकि ऐसा करने से उन्हें सत्ताधारी पुरोहित वर्ग से संघर्ष ठान लेना पड़ता और उनकी 'मूलथीसिस' भी जनता तक पहुँच नहीं पाती। जमाने-जमाने की बात है। वह युग ऐसा था जिसमें 'मूलथीसिस' के प्रचार के लिए बूढ़े वर्णाश्रम धर्म के समर्थन में एक दर्जन चौपाइयाँ लिखना जरूरी था। आज युग ऐसा है कि उसी उद्देश्य के लिए उनका इसके जनता संस्करण से निकालना आवश्यक है। तुलसीदास सनातनधर्म के कवि हैं, वर्णाश्रम-धर्म के नहीं। उन्होंने जानबूझकर शम्बूक का प्रसङ्ग अस्वीकृत कर दिया है, और शबरी-निषाद के प्रसङ्ग को अति विस्तार दिया है। इस कार्य से ही उनकी रुचि का पता चलता है। "जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।" या "पूजिय विप्र सीलगुणहीना। सूद्र न गुणगन ज्ञानप्रवीना।" आदि चौपाइयाँ मानसरूपी पवित्र रसाल पर उगी वंध्यामंजरी है। यह वंध्यामंजरी न केवल निष्फला है बल्कि मूलवृक्ष का प्राण शोषण कर रही है।

मैं अपना एक व्यक्तिगत अनुभव बताऊँ। एक बार एक चमार ग्रेजुएट ने मुझसे कहा— "आप लोग 'भारतीयता' की बातें अक्सर करते हैं माना कि इसका वाङ्मय, इसकी कीर्ति महान् है। पर इसको पूरी हिन्दू जाति की 'संयुक्त निधि' 'कामन वेल्थ' के रूप में कब आप लोगों ने स्वीकृत किया है? कब आप लोगों ने इस गरिमा में हमको कोई हिस्सा दिया है? हम कैसे अनुभव करें कि हम भी उसी 'महाकुल' के सम्मानित भागीदार हैं? और हम यदि यह अनुभव नहीं कर पाते हैं, तो हमारे लिए भारतीय 'महाकुल' का वही महत्व है, जितना इस्लामी, चीनी या यवन महाकुलों का।" हमारे पास इस कई हजार वर्ष दबायी गयी आग की चिनगारी का कोई जवाब नहीं था। अतः मेरी धारणा है कि यदि 'मानस' को भावी भारत की 'श्रुति' बनकर जीवित रहना है, तो इसके मध्य हमारे प्रत्येक वर्ग को अपनी आत्मा का सम्मानपूर्वक प्राप्त आविष्कार मिलना चाहिए, प्रत्येक वर्ग के हृदय में इसको 'संयुक्त निधि' या 'कामन वेल्थ' के रूप में अनुभूत होना चाहिए। ऐसा नहीं होता है, तो 20वीं शती में यह राष्ट्रीय महाकाव्य और राष्ट्रीय श्रुति होने के योग्य नहीं। स्मरण रहे कि 'मानस' से सम्पूर्ण वर्णाश्रम उड़ाने या निकालने की बात नहीं कर रहा हूँ। मैंने प्रथम ही कहा है कि मानस के ताने-बाने में 'सनातनधर्म' और 'वर्णाश्रम' दोनों परस्पर गुँथे हैं। मेरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो प्रस्ताव सिर्फ एक दर्जन 'आक्रामक' चौपाइयों को जो गाली-गलौज सी लगती हैं (भले ही 16वीं शती में तर्क-सम्मत लगती रही हों) निकाल देने का है। क्योंकि आज उनका अस्तित्व 'मानस' में कलंक की तरह है। यह मानस चतुर्शती एक ऐसा अवसर है जब भारत के विद्वान् 'मानस' पर सम्मिलित भाव से चिन्ता करने को तत्पर हैं और इसी अवसर पर यह कार्य सामूहिक स्वीकृति के साथ सम्पन्न होना चाहिए। आज हमारा नारा है— 'न हिन्दू पतितो भवेत्!' जो कोई भी हिन्दू बनकर जन्मा है वह कभी भी पतित और हीन नहीं होता।

मानस की नयी व्याख्याएँ : तुलसी एकेडेमी

टी० एस० ईलियट ने एक बार लिखा था कि भविष्य के 'चर्च' अर्थात् धर्म को 'रिचुअल' (कल्प) नहीं बल्कि बौद्धिक समृद्धि पर निर्भर रहना होगा—भावी मनुष्य उसी धर्म को स्वीकृत करेगा जिसमें उसके बौद्धिक सुख की तृप्ति होगी। मैं इस बात को पूरी तरह से नहीं मानता। जनसाधारण के आकर्षण के लिए रिचुअल का महत्त्व अवश्य है। हाँ, बुद्धिजीवी मात्र, रिचुअल (कल्प) से संतुष्ट नहीं हो सकता। उसके पीछे निहित कोई दर्शन हो तभी उसे तृप्ति मिलेगी। 'मानस' में विज्ञ और बुद्धिजीवी जनों की दिलचस्पी स्थिर रखने के लिए इसकी बौद्धिक समृद्धि का उद्घाटन करना होगा। अभी तक इसकी जितनी व्याख्याएँ हुई हैं, वे प्रायः (वाक्य चमत्कार और वाग्जाल के अतिरिक्त) बिशिष्टाद्वैतवादी हैं जो रामावत सम्प्रदाय-वालों का दर्शन है। इस सम्प्रदायगत घेरे को काटकर 'मानस' की परीक्षा नहीं की गयी है। 'मानस' यदि सारी संस्कृतियों एवं विधाओं का संगम है तो इस बात को सिर्फ कहने से ही काम नहीं चलेगा, इसे उद्घाटित करके दिखाना होगा तभी इसका 'श्रुतित्व' प्रमाणित हो सकेगा। इसके संदर्भ में वही काम करना है जो गीता के संदर्भ में विविध आचार्यों ने अभी तक किया है। यदि हम अनुभव करते हैं कि मानस में 'श्रुतित्व' का आसन प्राप्त करने की क्षमता है तो हम न केवल विविध वेदान्त दर्शनों की दृष्टि से बल्कि शैवागम और शाक्त दृष्टि से इसकी व्याख्या प्रस्तुत करें, इसकी व्याख्या सूफी और ईसाई दर्शनों की समानान्तरता में प्रस्तुत करें, इसकी व्याख्या आधुनिकता के संदर्भ में प्रस्तुत करें, नव्य वेदान्त और नव्य ईसाईवाद जो 20वीं शती में विकसित हुआ है उनकी दृष्टि से इनकी परीक्षा करें और इसके 'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्' के दावे को सिद्ध करें तभी यह 20वीं शती के विद्वानों के आदर का पात्र बन सकेगा अन्यथा नहीं। मुझे 'मानस' पढ़ने की आदत है। और कभी-कभी मैंने स्वयं अनुभव किया है कि इसका ''नानापुराणनिगमागमसम्मतम्'' का दावा न केवल प्राचीन-अर्वाचीन भारतीय दर्शनों की दृष्टि से बल्कि विश्व-दर्शनों की दृष्टि से भी सटीक है और भारतीय संस्कृति एवं चिन्ता का जो कुछ श्रेष्ठ प्रतिदान है, सब कुछ का इसके अन्तर्गत समाहार हो गया है। मुझे स्वयं अनुभव हुआ है कि शैवागम या शाक्तागम की दृष्टि से इसकी एक व्याख्या बड़ी सरलता से प्रस्तुत की जा सकती है। गोस्वामीजी ने बड़े सादे ढंग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से शैवागम और शाक्तागम के बड़े-बड़े सिद्धान्तों की छोटी-छोटी चौपाइयों में अभिव्यक्ति दे दी है। जिनकी पहचान शैवागम या शाक्तागम के विद्यार्थी को बड़ी आसानी से हो सकती है। उदाहरण के लिए 'छविगन मध्य महा छवि जैसी' इस मामूली पंक्ति के अन्दर 'श्रीविद्या' का विराट् सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। 'महाछवि' अर्थात् 'श्री' या 'महात्रिपुरसुन्दरी' जिसे ही कुल-दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थ 'तंत्रालोक' (अभिनव गुप्त) ने अनुत्तरा, परा, कौलिकी आदि कहा है। सारी सृष्टि ही मूलतः मानसी है और प्रत्येक सृष्टि 'छवि', मूलतः महा चैतन्य के भीतर अभिव्यक्त होने वाले रूप के पूर्व 'प्रत्यय' (आयडिया) बनकर स्थित है। जैसे एक दीपशिखा अगल-बगल रखे विभिन्न दर्पणों में प्रतिबिम्बित होती है वैसे ही त्रिपुरसुन्दरी के 'महामाया' रूप का प्रतिबिम्ब उक्त प्रत्येक प्रत्यय या 'छवि' के मध्य व्यक्त होता है। अतः सृष्टि में जो कुछ छविमान है वह उसी 'महाछवि' अर्थात् परमाप्रकृति, श्री, या त्रिपुरसुन्दरी के 'महामाया' रूप का प्रतिबिम्ब है। सृष्टि-कमल के प्रस्फुटन के प्रथम क्षण में, नाम रूप से परे 'आदि संवित्' की परमाप्रकृति ही महामाया रूप में स्थित हो जाती है। गोस्वामीजी उसी को 'महाछवि' कहते हैं। मंगलाचरण में ही सीता को महज लक्ष्मी नहीं 'परमसंवित्' की 'परमाप्रकृति' के रूप से उन्होंने वन्दित किया है। ''यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा'' में 'माया' शब्द का अर्थ 'महामाया' है। यह सिसृक्षा के विकास का चौथा 'स्पन्द' या चरण है। प्रथम 'स्पन्द' में 'परमसंवित्' 'सदाशिव' रूप लेता है, द्वितीय 'स्पन्द' में 'ईश्वर' या 'महेश्वर' रूप, तृतीय 'स्पन्द' में 'सद्विद्या' रूप (जिसे उपनिषदों ने हेमवती 'उमा' कहा है) और चतुर्थ 'स्पन्द' में 'महामाया,' रूप है। यहीं से सृष्टि के सगुण विकास का प्रारम्भ होता है तथा महामाया, पुरुष (अहं) का सान्निध्य पाकर पंच-कंचुक और तीन गुणों वाली 'प्रकृति' (इदं) में व्यक्त होती है। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन द्वारा प्रतिपादित तत्त्व है जो अल्प परिवर्तन के साथ 'श्रीविद्या' और शाक्त आगमों में भी स्वीकृत है। इसी भाँति गोस्वामीजी की एक अन्य पंक्ति लें, ''हेतु कृशानु भानु हिमकर को।'' साधारण अर्थ हुआ 'वह परमात्मा जो अग्नि, सूर्य और चन्द्र का भी हेतु है।' साधारण पाठक 'अग्नि', 'सूर्य' और 'चन्द्र' का साधारण अर्थ जो दृश्यमान है, उसी से संतोष कर लेता है। परन्तु यही 'श्रीविद्या' के एक मूलभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन है—'हार्धकला' का सिद्धान्त। 'कामकला' सर्वोच्च देवता है जो त्रिकोण रूप में व्यक्त होता है। इस कामकला को परा, ललिता, श्री, त्रिपुरसुन्दरी, भट्टारिका आदि कहा गया है। सूर्य, चन्द्र और अग्नि इसके त्रिकोण हैं। 'सूर्य' ('मिश्रविन्दु', 'नाद' और 'विन्दु' दोनों के मिश्र रूप का प्रतीक) इसका मुख है। 'अग्नि' (श्वेत वर्ण 'विन्दु') तथा 'चन्द्र' (रक्त वर्ण 'रज') इसके दोनों स्तन हैं। इस त्रिकोण के नीचे सृष्टि जन्म की गर्भगुहा या 'योनि' है इसे 'हार्धकला' कहते हैं। अतः 'भानु', 'कृशानु' और 'हिमकर' सृष्टि के पूर्व के आदि त्रिकोण को व्यक्त करते हैं, और इस त्रिकोण का जिससे विकास होता है वह है परम 'अविभक्त' संविद् रूप आदि चैतन्य रूप परमात्मा अर्थात् रामचन्द्र। यह आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त्रिकोण ही हार्धकला के साथ परमाप्रकृति या श्री, त्रिपुरसुन्दरी, महामाया को व्यक्त करता है।

हमने अभी तक सिर्फ दार्शनिक व्याख्याओं की चर्चा की है। इसी भाँति 'मानस' के साहित्यिक और नैतिक मर्मों का भी उद्घाटन होना चाहिए। हिन्दी-जगत् में 'मानस' को जिस रूप में पढ़ा-पढ़ाया जाता है उससे अनुभव नहीं होता कि 'मानस' एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है। इसकी साहित्यिक विशेषताओं का ठीक से उद्घाटन नहीं हुआ है। 'रासो' को लोग ऐतिहासिक काव्य की तरह पढ़ते थे। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी को श्रेय है उसके काव्य-सौंदर्य के उद्घाटन का और उसे काव्य-ग्रन्थ के रूप में पठन-पाठन की परम्परा चलाने का। 'रामचरितमानस' के संदर्भ में भी यह काम होना चाहिए। हिन्दी के एक मान्य पण्डित ने 'मानस' पर इधर कुछ काम किया भी है तो उससे 'मानस' के सौन्दर्य का उद्घाटन होना तो दूर रहा है जो साधारणतः अनुभूत सौन्दर्य है वह भी हीन हुआ ××× मानस के इन विविध मर्मों का उद्घाटन एक आदमी करने बैठे तो असंभव है। पहले तो इस किस्म का विश्वकोष-कोविद, दिग्गज विद्वान् पाया जाना कठिन है। दूसरे एक अकेले आदमी का पूरा जीवन भी इस वृहत्तर कार्य के लिए पूरा नहीं पड़ेगा। अतः एक 'तुलसी एकेडेमी' की स्थापना होनी चाहिए जो विविध पण्डितों के सहयोग से यह काम करावे और उसके प्रकाशन का जिम्मा ले। जिस हिन्दी भाषा में आज 'साहित्य' का अर्थ पत्रकारिता-आविष्ट प्रचार-साहित्य या 'सांवादिक साहित्य' (काव्य और गल्प भी इसी सांवादिकता के घेरे में कैद हैं।) है उस भाषा में गम्भीर साहित्य के प्रकाशन के लिए प्रकाशक जुटाना टेढ़ीखीर होगा। अतः यह सब कार्य बिना राज-संरक्षण के संभव नहीं। इसीलिए एक 'तुलसी एकेडेमी' की स्थापना की जाय और उसमें वे लोग लिये जायँ जो विविध विषयों के पण्डित होने के साथ-साथ तुलसी साहित्य से अनुराग रखते हों; केवल 'डाक्टरेट' ही नहीं, रामावत सम्प्रदाय और विविध अन्य सम्प्रदायों के प्रगतिशील दृष्टि वाले विद्वानों को भी उसमें स्थान दिया जाय।

रामचैत्य आन्दोलन

जन-साधारण के संदर्भ में हमारा प्रस्ताव है—एक नैतिक और साहित्यिक आन्दोलन छेड़ने का; जिसके अन्दर प्रत्येक जनपद में 'मानसमन्दिर' की स्थापना का और प्रत्येक गाँव में रामचैत्य या 'रामचबूतरा' स्थापित करने का कार्य सम्पन्न हो। 'मानसमन्दिरों' और 'रामचैत्यों' के माध्यम से अनेक साहित्यिक, सांस्कृतिक कार्यक्रम चलाये जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध 'मानस' से या 'मानस' सम्बन्धी विषयों यथा वैष्णव साहित्य आदि से है। हर दस-बीस ग्राम के केन्द्र में कोई न कोई हाईस्कूल या माध्यमिक स्कूल होगा ही। इन्हीं स्कूलों के माध्यम से इन कार्यक्रमों का संगठन हो सकता है। न केवल रामायण-गान, रामायण के अर्थ की चर्चा बल्कि समय-समय पर रामायण की चौपाइयों का पुट देकर संगीत आलेख या ऑपेरा अथवा नौटंकी आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोकनाट्यों की विधा पर 'मानस' पर आधारित कार्यक्रम प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि संगीत, नाटक, साहित्य, शास्त्रार्थ आदि सभी साधनों का उपयोग करके वातावरण को मानस-मय बनाया जाय। कीर्तन की भाँति रामायण-पाठ को भी जन्मोत्सव आदि अवसरों पर संस्कार-पद्धति या 'रिचुअल' (कल्प) का अङ्ग मानकर स्वीकृत कर लेना चाहिए। इस काम के लिए नेतृत्व, कार्यकर्ता और धनराशि तीनों की जरूरत होगी। पर सबसे कठिन है नेतृत्व की समस्या। धनराशि का प्रश्न मुख्य नहीं। रामचरितमानस की प्रतियाँ घर-घर हैं। जाड़े के दिनों में अलाव के चारों ओर बैठकर लोरकी सुनने या रानी सारङ्गा की कहानी सुनने या होली-गान करने में जिस प्रकार धनराशि की जरूरत नहीं रहती थी, वैसी ही इसमें भी नहीं होनी चाहिए। ये सब कार्य इस रूप से होने चाहिए गोया ये सहज जीवन के अंग हों। माघ-पंचमी के बाद की रातों को सहजभाव से हम लोग जिस तरह बिना किसी 'गेट' वन्दनवार के, बिना उत्सव की साज-पोशाक के, ढोलक-झाझ पर होली गाते आये हैं, वैसे ही, उसी सहज रूप में 'मानस' के कार्यक्रमों को चलना होगा। यदि इस रूप में वे नहीं चल पाते हैं, तो खर्च-वर्च करके चलाने से हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा। हमारा उद्देश्य है 'मानस' हमारे 'मन' का अंग बन जाय। इसके लिये कल्पना-शक्ति सम्पन्न हाईस्कूलों के साहित्य के अध्यापक या ऐसे ही व्यक्ति नेतृत्व दें, तो कुछ हो सकता है। कार्यकर्त्ता भी हाई-स्कूल स्तर के विद्यार्थियों से ही अधिक आयेंगे, क्योंकि इन्हीं के अन्दर उपयुक्त समझ-बूझ प्राप्त होगी। यह सही है कि नेहरू-युग में (और उनके बाद तो और अधिक) ग्रामीण जनता का मन विकारग्रस्त हुआ है। उसे अत्यधिक राजनीतिमय बनाया गया है। आज चकबन्दी, परस्पर राग-द्वेष, पंचायत की राजनीति तथा बढ़ती गुण्डागर्दी के कारण गाँवों का मन अतिविकृत हो चुका है। इसे पुनः शुद्ध और सतोगुणी करने की समस्या है। इसकी एकमात्र और सर्वसुलभ औषधि है—रामचरितमानस का व्यापक प्रशिक्षण। क्योंकि मानसिक रोग का इलाज भी मानसिक ही होगा। अतः समस्या है—रोग और औषधि से भेंट करा देने की, येन-केन-प्रकारेण चाहे जैसे हो। रोग कम शक्तिशाली नहीं। यह ग्रामीण जनता को महौषधि के पास जाने नहीं देगा। इस खतरे की ओर गोस्वामीजी का ध्यान था। बालकाण्ड में ही ''जातहिं नींद जुड़ाई होई'' कह कर उन्होंने दैनन्दिन अनुभव व्यक्त कर दिया है। पर यदि रोग विकट हिरण्यकशिपु है, तो यह भी उतना ही ध्रुव है कि 'रामनाम नर केहरी' से उसकी भेंट भी एक समय, न दिन में, रात में, पर कभी न कभी होनी अनिवार्य, वह बचकर जायेगा कहाँ? प्रह्लाद की तरह नयी पीढ़ी के कुछ जापक मिल ही जायेंगे। कुछ तो करना ही है। जबान और हाथ-पैर हिलाते रहने की जरूरत है। हाथ पर हाथ धरे रहने से तो कोई लाभ नहीं। आरम्भ कर देने पर ही तो कुछ होगा।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोकगीत एवं लोकनृत्य प्रदर्शन

प्रिय अध्यक्ष महोदय और समागत सज्जनवृंद,

आज हमलोग लोकगीत और लोकनृत्य के प्रदर्शन का आनन्द लेने बैठे हैं। ऐसे अवसर पर व्याख्यान फटकारना 'मोहनभोग' में कंकड़ डालने की तरह है और वह भी मेरे जैसे आदमी द्वारा जो लोकगीत-लोकनृत्य की तो बात ही नहीं, व्याख्यान देना भी नहीं जानता। लोकनृत्य दो-चार बार गाँव-देहात में रहने के कारण देखा जरूर है। परन्तु उसके शास्त्र से मेरा वही सम्बन्ध है जो 'भसुर' का 'भ्रातृवधू' से होता है। लोकगीत से अवश्य ही कुछ परिचय है क्योंकि अब यह साहित्य का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है, परन्तु इस विषय में मेरा कोई खास प्रवेश हो, यह मैं नहीं मानता। सुनने में मौज आती है। बस इतना ही समझिए। और यह बात मेरे मनुष्य होने का प्रमाण है, इससे अधिक इसका महत्व नहीं होता। तो प्रारम्भ में मैं आपके मन की उस तरंग को धन्यवाद देता हूँ जिससे प्रेरित होकर आपने मेरे जैसे इस मंच के सर्वथा अनुपयुक्त व्यक्ति को मुख्य अतिथि बनाया! इन विषयों का कोई व्यवहारिक ज्ञान न होने के कारण मेरी समझ में नहीं आता कि 'लोकगीत' और 'लोकनृत्य' के कलाकारों की इस मजलिस में और उसके समझदारों की इस सभा में मैं क्या निवेदन करूँ, किस बात की चर्चा करूँ जो अवसरानुकूल हो। तो भी एकाध बातें तो कहनी ही पड़ेंगी।

गीत और नृत्य, कला के अन्तर्गत आते हैं। हमारी परम्परागत चिन्तन-पद्धति में बहुत प्राचीन काल से ही, वैदिक युग से ही कला के दो मौलिक भेद किये गये हैं। एक को कहते हैं 'मार्गी', दूसरे को 'देशी' । भारतीय कला के मर्मज्ञ आनन्द कुमारास्वामी के अनुसार जिसे हम लोकगीत या ग्रामगीत या अंग्रेजी में Folk Song कहते हैं 'देशी' के अन्तर्गत आता है और जिसे हम 'पक्का गाना' या Classical Music कहते हैं उसे हम 'मार्गी' संज्ञा के अन्तर्गत रखते हैं। 'मार्गी' और 'देशी' ये ही नृत्य और संगीत के दो मुख्य विभाजन हैं। इनका उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से ही चलता है। 'मार्गी' और 'देशी' इन दो शब्दों के मूल अर्थ बहुत दूर तक इस विभाजन को समझने में सहायता देते हैं। 'मार्गी' अर्थात् 'मार्ग' से जुड़ा हुआ अथवा मार्ग पर चलने वाला। मार्ग कहते हैं रास्ते को। रास्ता एक बँधी हुई दिशा और परिपाटी को सूचित करता है। मार्ग का अर्थ होता है रास्ता, पद्धति, आदि। जो संगीत बँधी हुई परिपाटी या पद्धति पर चलता है, जिसका रास्ता स्थिर है, वह है 'मार्गी' संगीत। उसके प्रतिकूल है 'देशी'। 'देश' का विस्तार चारों दिशाओं में होता है। उसके भीतर अनेक रास्ते बनते-बिगड़ते रहते हैं। उसमें नये-नये मार्ग या रास्ते बनाये जा सकते हैं। देश किसी खास रेखा का अनुधावन नहीं करता है। इस प्रकार का संगीत रीतिमुक्त और स्वतंत्र होता है। बहुत प्राचीनकाल में भी वैदिक संगीत में भी ऐसा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भेद वर्तमान था। संगीत का देवता है विष्णु। वेदों में सामवेद संगीत-प्रधान है। इसी से भगवान ने कहा है कि मैं वेदों में सामवेद हूँ। विष्णु के वाहन की कल्पना सुपर्ण या गरुड़ पक्षी के रूप में की गयी है। कहा जाता है कि विष्णु जब गरुड़ पर चढ़कर चलते हैं तो उसके धावमान डैनों से वैदिक मंत्रों का संगीत बनता चलता है। गरुड़ के दोनों डैनों की तुलना 'रथन्तर' और 'वृहत्' साम से की गयी है। यहाँ पर भी वही प्राचीन भेद का संकेत मिलता है। 'रथन्तरण' अर्थात् रथ के द्वारा मार्ग तय करना। जैसे 'संतरण' यानी तैरकर पार करना। ठीक वैसे ही 'रथन्तरण' और 'रथन्तर' साम का अर्थ ही है वह साम, वह harmony या music जो यानबद्ध चले अर्थात् किसी निश्चित मार्ग पर चले। रथ तो सड़क पर ही चल सकता है। इसके लिए राजमार्ग चाहिए। इसके प्रतिकूल है 'वृहत्साम'। 'वृहत्' अर्थात् विस्तृत जो राजमार्ग से हट कर देशव्यापी हो, जो समस्त लोक को व्याप्त कर रहा हो। वह है 'वृहत्साम'। सूर्य का साम वृहत्साम है। विश्व भी सूर्य ही है अतः विष्णु का साम वृहत्साम है। 'सामों में मैं 'वृहत्साम' हूँ।' गीता में भगवान ने स्वयं कहा है। अर्थात् संगीत में मैं लोकव्यापी संगीत हूँ। अतः प्रकारान्तर से वृहत्साम लोक-संगीत का अर्थात् 'देशी' का द्योतक है। जब कहा जाता है कि विष्णु के वाहन गरुड़ के दक्षिण डैने से रथन्तर साम की ध्वनि निकलती चलती है और वाम डैने से वृहत्साम की, तो इसका मतलब यह है कि विष्णु संगीत का देवता है, उसका वाहन है 'वाक्' रूपी सुपर्ण और उसके दक्षिण डैने से 'मार्गी' संगीत की ध्वनि निकलती है तो वाम डैने से 'देशी' की। इसी 'मार्गी' को आज की भाषा में Classical संगीत कहते हैं और 'देशी' को 'लोकगीत'। Classical अंग्रेजी शब्द है। सौ वर्ष से चालू है। पहले इसी को 'मार्ग-संगीत' यानी रीतिबद्ध, परिपाटीबद्ध संगीत कहा जाता था और देशी था रीतिमुक्त और स्वतंत्र। हमारे शास्त्रों में जैसे भरत के 'नाट्यशास्त्र' में, धनंजय के 'दशरूपक' में 'मार्गी' शब्द का उल्लेख है। दुर्भाग्य से इस शब्द का प्रयोग कम होता गया। हम काम चलाने के लिए 'शास्त्रीय संगीत' भी कह लेते हैं। परन्तु Classical शब्द का पुराना भारतीय प्रतिशब्द 'मार्गी' ही है। यह शास्त्र से जुड़ा है और शास्त्र जुड़ा है भगवान से। यह 'मनुष्य' को 'भगवान' से जोड़ने का साधन माना गया है। महायान बौद्ध धर्म और वैष्णव धर्म में इसी से संगीत का अपार महत्व है। विष्णु का तो वाहन ही संगीत है। अनेक वैष्णव मन्दिरों में, विशेषतः वल्लभ सम्प्रदाय में उपासना का माध्यम 'संगीत' माना गया है। वैष्णव सम्प्रदाय में भजन, कीर्तन का महत्व इसीलिए है कि भगवान मनुष्य के हृदय में 'श्रवण' के, कानों के, माध्यम से प्रवेश करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में अष्टयाम उपासना संगीत द्वारा होती है। इसी से शास्त्रों में कहा गया है कि मार्गी संगीत का लक्ष्य है 'मुक्ति' और 'भक्ति'। इसके प्रतिकूल है 'देशी' यानी लोकसंगीत। इसका लक्ष्य है लोकानुरंजन। और इसका लक्ष्य लोकानुरंजन होने से सीधे-सीधे यह जुड़ा है हमारी लोक-संस्कृति से। सच तो यह है कि 'लोक-संस्कृति' का चेहरा अर्थात् Identity (पहचान) लोकगीत और लोकनृत्य ही बनाते हैं।

किसी भी राष्ट्र के जीवन में लोक-संस्कृति का अपार महत्व होता है। जब तक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोक-संस्कृति जीवित है तब तक वह राष्ट्र मर नहीं सकता। लोक-संस्कृति में वैसे तो सारे सामाजिक आचार-विचार, पूजा-पर्व, उत्सव, गीत-नृत्य से लेकर भोजन-पान तक सब कुछ— Total way of life आ जाता है। परन्तु इसमें 'गीत' और 'नृत्य' तथा 'पर्व-उत्सव' इन तीनों का विशेष महत्व है। कहते हैं कि जो मृगयाजीवी यानी अकृषक जातियाँ हैं उनमें 'नृत्य' महत्वपूर्ण होता है और 'कृषक' जातियों में 'गीत'। आज भी लोकनृत्य का खाँटी उदाहरण पहाड़ी और आरण्यक जातियों में ज्यादा मिलता है बनिस्बत मैदानों में रहने वाली कृषि सभ्यता के अधीन जातियों के। मैदानी इलाकों में भी वे जातियाँ जो किसान बन गयी हैं, उनके पास 'नृत्य' नहीं है परन्तु संगीत है। पुरुष समाज से ज्यादा नारी-समाज में परन्तु जो जातियाँ कृषक नहीं हैं, जैसे धोबी, कहार, चमार उनमें आज भी लोक-नृत्य जीवित है। अहीरों के पास भी लोकनृत्य है तो इसलिए कि आज से 50-60 वर्ष या 100 वर्ष पूर्व अहीर गोपालक जाति थी। कृषि की ओर यह जाति हाल में ही मुड़ी है। सारे चरागाह काट कर खेत बना डाले गये। गोपालन के लिए कोई सुविधा नहीं रही। अतः यह जाति भी कृषक श्रेणी में आ गयी। तो भी इसके पास अब भी अपना निजी 'लोकनृत्य' है जो धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। परन्तु शुद्ध किसान जातियाँ जैसे ब्राह्मण-क्षत्रिय के पास अपना कोई लोकनृत्य नहीं है। लोकगीत अवश्य है यथा होली-चैता इत्यादि और फिर नारी आचार के गीत तो हैं ही जैसे उपनयन गीत, विवाह गीत, शिशु-जन्म गीत इत्यादि। ये सारी बातें हमारी लोक-संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं।

उत्तर भारत में, विशेषतः हिन्दी-क्षेत्र में अपनी लोक-संस्कृति को पहचानने, उसके अध्ययन करने की ओर एक सुरुचि का जागरण हुआ है। यह शुभ का आरोहण है। हमारी भोजपुरी लोक-संस्कृति पर इधर काफी काम हो रहा है। उन सारी बातों को जिन्हें हम गँवारू कहते हैं, फिर से पहचानने की प्रक्रिया शुरू हो गयी है। एक उदाहरण लें। हमारे गाँव में काली-पूजा होती है तो काली माई को 'धार' दी जाती है। 'धार' में लौंग-गुड़ और जल का प्रयोग होता है। ऐसा क्यों होता है। तंत्र ग्रंथों में विधान है कि देवी को 'कारण-वारि' का तर्पण देना चाहिए। यह 'कारण' जल है क्या? वस्तुतः मदिरा का ही तांत्रिक नाम है 'कारण'। परन्तु 'मदिरा' का प्रयोग तो सनातन धर्म में वर्जित है। इसी से विधान है कि जो तांत्रिक पद्धति से पूजा न करता हो, स्मार्त्त पद्धति से पूजा करता हो, वह इसका विकल्प तर्पण दे सकता है। यदि वह ब्राह्मण है तो नारियल का जल दे, यदि वह क्षत्रिय है तो वह 'लौंग और गुड़' के साथ जल अर्पित करे। चूँकि हमारे क्षेत्र में उत्तर भारत में नारियल-जल सुलभ नहीं है इसी से सभी लोग लौंग और गुड़ की धार देते हैं। अतः गाँव की जो अशिक्षित औरतें निरन्तर कर रही हैं वह कोई गँवारू कर्म नहीं बल्कि तंत्रशास्त्र और आगम के द्वारा निर्देशित पद्धति ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर से जो बातें हमें 'गँवारू' या 'ग्राम्य' लगती हैं उनके अन्तराल में भी कुछ गम्भीर तत्व निहित है। आवश्यकता है उस मर्म को पहचानने की। वैसे गाँव से जुड़ी हर एक बात को हीनतर या भद्दी मानने की मनोवृत्ति नयी नहीं है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'नागरिक' का अर्थ ही लोग समझते हैं सभ्य और 'संस्कारवान' तथा 'ग्रामीण' का मतलब लोग लगाते हैं सभ्यता से दूर अत: भदेस। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की जन्मभूमि गाँव ही है। तो भी ग्राम-नगर की यह नोकझोंक बहुत पुरानी है और शिक्षित जनों के संस्कार में बैठी हुई है। एक थे प्राचीन स्मृतिकार। नाम था बोधायन। उन्होंने घोषित कर दिया कि जो नगर में रहता है उसे अर्थ-काम-धर्म भले ही मिल जाय, परन्तु वह 'मोक्ष' कभी पा नहीं सकता। इसका बदला लिया है ईश्वरकृष्ण नामक एक टीकाकार ने जिसने वात्स्यायन के कामसूत्रों पर टीका लिखी है। ये ईश्वरकृष्ण 'सांख्य कारिका' के ईश्वरकृष्ण से भिन्न व्यक्ति हैं। इनका कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी पढ़ी विद्या को भूल जाना चाहता है तो वह गाँव जाकर सात दिन रह ले। तो गाँव या गाँव से जुड़ी हर बात को और इसीलिए लोकगीत और लोकनृत्य को भी लोग हीन दृष्टि से देखते रहे हैं। परन्तु इधर हालत बदली है। अब सांस्कृतिक स्तर पर भी ग्राम संस्कृति की मर्यादा स्थापित हो रही है और अभिजात या नागरिक संस्कृति ग्राम संस्कृति से बल और ओज लेकर अपनी प्रकृति को नया संस्कार दे रही है। तेलगूभाषी क्षेत्रों में लोकनृत्य की 'यक्षगान' शैली का पुनरुद्धार हुआ है अभिनव तेलगू रंगमंच के द्वारा। बंगाल में बँगला लोकगीतों विशेषत: भटियाली गीतों और बाउल गीतों की ध्वनियों का उपयोग रवीन्द्रनाथ और नजरुल इस्लाम ने अपनी कविता में करके उसकी शक्ति को स्वीकृत किया है। असम में खासी, जयन्तिया, बोडो और रांभा जातियों के लोकनृत्यों का पुनरुद्धार करके एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण को जन्म दिया है विष्णु रामा ने। असमी लोकगीतों का आश्रय लिया है प्रसिद्ध असमिया गायक भूपेन हजारिका ने। हर प्रदेश में लोकसंस्कृति, लोकगीत और लोकनृत्य को अभिनव संस्कार देकर उसके सही और व्यापक धरातल की पहचान स्थापित हो रही है और इस प्रकार नागरिक संस्कृति में जो एक 'अवरोध' या Crisis आ गयी थी, वह इसी गँवारू और ग्रामीण संस्कृति का आश्रय लेकर दूर की जा रही है। यह एक दुतरफा संशोधन की प्रक्रिया है। इससे एक ओर तो नागरिक संस्कृति में नये प्राण और नये जीवन का संचार हो रहा है दूसरी ओर लोकगीत और लोकनृत्य की ग्राम्यता, गँवारूपन या Vulgarity खतम हो रही है और उसको एक व्यापक धरातल तथा सुरुचि प्राप्त हो रही है। यानी ग्राम और नगर दोनों सांस्कृतिक जीवन में एक दूसरे को परस्पर समृद्ध कर रहे हैं। खेद है कि हिन्दी-क्षेत्रों में इस दिशा में प्रयास कम हो रहा है। हिन्दी क्षेत्रों में ऐसे माध्यम और ऐसे व्यक्तियों का अभाव है जो इस दिशा में काम कर सकें। जो थ्योरी बताते हैं वे इन कलाओं के व्यवहारिक अनुभव से शून्य हैं। और जिन्हें इन कलाओं के व्यवहार-क्षेत्र में दखल देना है वो पूर्णत: शिक्षित नहीं। इस तरह ले-देकर कलाकार और शिक्षित समझदार के बीच एक अपरिचय की स्थिति एक बेगानापन बना रह जाता है। इस अपरिचय की स्थिति को तोड़ने का सर्वाधिक उत्तम उपाय है ऐसे लोकनृत्य और लोकगीत के सम्मेलनों का आयोजन। हमारा आज का यह सम्मेलन अपनी छोटी सी सीमा में भी एक महत्वपूर्ण कदम है।

इसीलिए मैं इसके आयोजकों को बधाई का पात्र मानता हूँ। इससे लोकगीत और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोकनृत्य का परिचय नागरिक रुचिबोध के साथ होगा। और, इसकी सांस्कृतिक सीमा का विस्तार होगा। ये लोकगीत और लोकनृत्य अब भी एक जीवन्त सांस्कृतिक परम्परा के अंग हैं। इनका जीवन्त स्पर्श हमारे नागरिक रुचिबोध की जड़िमा को कम करेगा और उसमें एक नयी चेतना का संचार करेगा। आज खड़ीबोली हिन्दी में कविता तो लिखी जा रही है परन्तु जो कुछ ले-देकर सामने आ रहा है वह कविता तो है ही नहीं, ठीक से गद्य भी नहीं है। यदि खड़ीबोली अपना सम्पर्क लोकगीतों से स्थापित कर ले तो उसका आन्तरिक उपचार हो जायगा और वह फिर सहज मुद्रा में आ जायेगी। इस तरह अनेक दृष्टियों से लोकगीतों और लोकनृत्यों का प्रचार और प्रसारण जरूरी है। मैं पुनः अपने आयोजक मित्रों को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने ऐसा अवसर हमलोगों के लिए सुलभ कराया। यह बात मैं लोकानुरंजन की दृष्टि से ही नहीं बल्कि भावी सांस्कृतिक पुनर्जागरण (Cultural Renaissance) की दृष्टि से भी कह रहा हूँ। हम सब सुखी हों, हम सब तन और मन से निरामय हों, हमारा मन अवदमनों से मुक्त हो, हमारे अन्तर की तमसा शान्त हो, इस 'भरतवाक्य' के साथ मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ। नमस्कार!

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लालित्य का मर्म

आदरणीय सभाध्यक्ष महोदय, एवं समागत सुधीवृंद,

महाविद्या भगवती कालिका को नमोनमः और इसके बाद बंगाल को नमोनमः जिसमें मेरी अपनी 'विद्या-मातृका' (Alma Mater) 'कलकत्ता विश्वविद्यालय' नामक संस्था अवस्थित है।

मैं जिस दायित्व को लेकर आज आपके सामने उपस्थित हूँ उसके बारे में टालमटोल 1984 से ही करता आ रहा हूँ। भाई परमानन्द जी चूड़ीवाल 'मेरी सृष्टि : मेरी दृष्टि' शीर्षक व्याख्यान माला के अन्तर्गत एक भाषण मेरा भी यहाँ पर कराना चाहते थे। मैं इसे बारबार टालता रहा। टालने का कारण यह था कि अपनी चीरफाड़ अपने ही कौन करने को तैयार होगा। वैसे भी मानता हूँ कि व्यवहारिक आलोचना यानी Practical Criticism का सर्जनात्मक वृत्ति पर नाधर्मी और प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसी से प्रायः पुस्तकों की समीक्षा मैं नहीं लिखता। अपनी-अपनी प्रकृति होती है। मेरी सर्जनात्मक प्रकृति के साथ यह बात खप नहीं पाती। और अपनी रचना या अपनी रचना-विधा के बारे में बोलना तो और मुश्किल है। ललित निबंध में सिसृक्षा मुक्त विचरण की छूट माँगती है। उसके इस आचरण पर, उसकी इस लीला पर बोलने का अर्थ है उस पर टीका-टिप्पणी करना, उसे बुद्धि और विवेक की लगाम पहनाना, और इस प्रकार रचनाकार के मनोमय जगत् में एक गृह-कलह जैसी स्थिति उत्पन्न करना। इसी से मैं इस काम से कतराता रहा।

इस बार कलकत्ते आना पड़ा 'भारतीय भाषा परिषद्' के निमंत्रण पर। जब कलकत्ते आ ही गया, तब अब बचकर कहाँ जाऊँ? अब तो कोई बहाना करने का मौका नहीं। फलतः श्री परमानन्द चूड़ीवाल के आग्रह को कुछ बदले हुए शीर्षक के साथ 'ललित निबंध का लालित्य' स्वीकार करना पड़ा और फलस्वरूप आपके सामने हाजिर हूँ। परन्तु मेरे पास अवकाश इतना नहीं था कि इस विधा पर सोदाहरण कुछ उद्धरणों और सटीक सामग्री के साथ आपके सामने उपस्थित होऊँ। अतः मैं जो कुछ कहूँगा वह 'लालित्य' और 'ललित निबंध' के मूलभूत सिद्धान्तों का सामान्य परिचय मात्र होगा। सब सुनने के बाद आपको यह भी लग सकता है कि मैं 'ललित निबंध का लालित्य' नहीं बल्कि 'लालित्य और ललित निबंध' शीर्षक पर बोल रहा हूँ। इसका कारण 'ललितनिबंध' का 'लालित्य' अन्य विधाओं के लालित्य की तरह ही होगा। लालित्यबोध की सारी कोटियाँ, सारे रूप जो काव्य और उपन्यास में उतरते हैं, ललित-निबंध में भी उतर सकते हैं। उनकी प्रकृति में कोई भेद नहीं होगा। आकृति में अवश्य भेद होगा क्योंकि इस विधा की एक सीमा है, एक सीमित 'अवकाश' की सीमित जमीन-आसमान ही इसके पास है। पर लालित्यबोध की प्रकृति में कोई खास फर्क

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं हो सकता। इस तथ्य की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ललित निबंध का लालित्य अन्य विधाओं के लालित्य की ही तरह होता है।

वैसे तो 'ललित निबंध' पद में 'ललित' शब्द मात्र विशेषण है, उपाधि है, अतः 'माया' है, 'भ्रान्ति' है। विशेष्य अर्थात् मूल तथ्य है 'निबंध' ही। अपनी माया, भ्रान्ति या इन्द्रजाल के साथ चाहे यह कितना भी खेल करे, परन्तु अपनी जाति 'निबंध' का निबंधत्व किसी हालत में यह छोड़ नहीं सकता, जो 'गद्य' की एक ठोस विधा है। तो भी ललित निबंध के क्षेत्र में इस उपाधि, इस माया का अपार महत्व है। यह उसकी लीला की पहली शर्त है। इस माया के स्वाद के कारण ही पाठक इसकी ओर खिंच आता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि यह मानुषी स्वभाव है। ब्रह्म से स्वादिष्ट माया ही होती है। ब्रह्म को भी जब स्वादिष्ट बनने की गरज होती है तो वे भी माया-तनु ही धारण करते हैं। वृन्दावन के वैष्णवों ने बिना छिपाव-दुराव के पूरी बेहयाई के साथ स्वीकार कर लिया है। "भवति भव्येषु हि पक्षपातः" कृष्ण के प्रति ही ऐसा पक्षपात क्यों? उत्तर मिला, "वे बड़े ही खूबसूरत हैं, और खूबसूरत के प्रति पक्षपात हो ही जाता है।" वे ललित हैं, इसीलिए लालित हैं।...... तो कहने का तात्पर्य यह कि 'ललित' मात्र विशेषण ही नहीं, इस विधा के अन्तर्बल की आधान-भूमि है। अतः मैं पहले कुछ 'लालित्य' पर ही कहना चाहूँगा।

'लालित्य' के मूल में है 'ललित' शब्द। 'लालित्य' की परिभाषा बनाने के लिए 'ललित' को परिभाषित करना होगा और यह एक निरर्थक प्रयास होगा। खाँटी 'ललित' सामने पड़ जाय तो औरों की भी परिभाषाएँ भूल जाती हैं, तो ललित की परिभाषा बनाने की तो बात ही दूर की है! अरे भई, परिभाषा तो उसकी बनती है जिसे आप नाप सकते हैं और ललित को नापने का कोई पैमाना ही नहीं है। मैंने तो कभी नहीं सुना है कि अमुक छोकरी उस दूसरी छोकरी से 'चार इंच' ज्यादा सुन्दर है या 20 डिग्री ज्यादा सुन्दर है। 'ललित' हो या 'लालित्य' हो, इसकी 2×2=4 की शैली में सटीक परिभाषा नहीं हो सकती। वैसे कुछ पण्डितों ने कोशिश की है। एक अलग से शास्त्र ही बन गया है Aesthetics 'सौन्दर्यशास्त्र'। परन्तु सारी परिभाषाएँ कहीं न कहीं जाकर छोटी पड़ जाती हैं और युक्ति तर्क की कठोर उँगलियों से सरक कर 'लालित्य' बाहर हो जाता है। पकड़ के बिल्कुल बाहर। ऐसा इसलिए होता है कि सत्य, ऋत, करुणा, ईमान, धर्म आदि की तरह लालित्य या सौन्दर्य भी एक मौलिक 'प्रमूल्य' है और मौलिक या मूल प्रमूल्यों को नापा नहीं जा सकता, उन्हें समझा जा सकता है, उनसे परिचित हुआ जा सकता है, उनका बोध प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उनके सारे कोणों और आयामों को स्पष्टतः परिभाषित नहीं किया जा सकता।

इसी से मैं कहता हूँ कि 'लालित्य' की परिभाषा करना निरर्थक प्रयास है, पण्डश्रम है! और यह 'पण्डश्रम' जो 'पण्डित' हो वे करे, मुझे नहीं करना है। यह बात नहीं है कि मुझे 'निरर्थक' से बहुत परहेज है। साहित्य में विशेषतः ललित निबंध में तो निरर्थक भी बड़ी मौज देता है। ललित निबंध के एक बहुत बड़े गुरु ने तो इसकी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिभाषा ही बना दी थी—"A tabletalk after fourth glass" यानी चौथी गिलास का नशा चढ़ जाने के बाद किसी संस्कारवान पुरुष का जो वार्त्तालाप होता है वही ललित निबंध है। जाहिर है कि ऐसे वार्त्तालाप में निरर्थक की मौज तो काफी रहेगी। परन्तु सच्चाई तो यह है कि ललित निबंध में यह सब ऊपर से ही निरर्थक होता है। भीतर यह भी हो सकता है कि उस निरर्थक के पीछे वे अश्रुपात हों जिन्हें लेखक अपने ईश्वर के समक्ष ही, मन के एकान्त में, कर सकता है और वह ईश्वर तथा वह मात्र पाठक से जुड़ जाता है तो 'जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।' मैंने भी स्वयं एक जगह लिखा है (सम्भवत: 'रस आखेटक' की भूमिका में) कि मेरा समस्त साहित्य या तो आर्त्तनाद है अथवा प्रार्थना! और प्रार्थना भी तो एक तरह का आर्त्तनाद ही है। वैसे मेरा आर्त्तनाद मेरे किसी व्यक्तिगत दु:ख-कष्ट, अभाव या पराजय का आर्त्तनाद नहीं, यह तो उस समूह का आर्त्तनाद है जिससे मेरे 'मैं' का जन्म हुआ है। यह एक ऐसे समूह का आर्त्तनाद है जिसकी आँखों के सामने उसका 'मनोमय गाँव', उसका नाम-धाम (the psychological habitation and the name) लुट रहा हो। परन्तु एक अलिखित सामाजिक दबाव के कारण वह प्रतिवाद नहीं कर सकता हो। अत: हारकर उसे ललित निबंध की भंगिमा अपनानी पड़ी है। अत: रचनात्मक साहित्य में, ललित निबंध में थोड़े बहुत निरर्थक से मुझे परहेज नहीं, बल्कि यह मुझे स्वादिष्ट ही लगता है। परन्तु आलोचना-शास्त्र की पक्की सड़क पर, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रोड पर चलते समय भरसक निरर्थक और फालतू से बचना ही चाहिए। इसी से 'लालित्य' क्या है या 'ललित' क्या है? इसकी परिभाषा तय करने मैं नहीं जाता क्योंकि इसका आस्वादन हो सकता है, बोध हो सकता है, जान-पहचान बनाई जा सकती है, परन्तु परिभाषा में इसे सटीक-सटीक बाँधा नहीं जा सकता है। इसकी परिभाषा बनाना मानो कालिका की जीभ की परिभाषा बनाना है। कालिका की जिह्वा 'आस्वादन' और 'वाक्' दोनों का प्रतीक है। देह-देह में कालिका बैठी है और वह 'रसना' के माध्यम से 'रस' का आस्वादन कराती है और 'वाक्' बनकर विद्या रूप धारण करती है। वह 'महारस' और 'महाविद्या' का प्रतीक है। वह परमाप्रकृति है। शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध, इन पाँचों तन्मात्राओं का मूलस्रोत है। लालित्य तो उसकी एक चिद्कला मात्र है। अत: उस भगवती को नमोनम: और उसकी विद्यारूपिणी रसना को नमोनम: जो लालित्य के आस्वादन का 'निमित्त' कारण है! उसकी परिभाषा कौन करने जाय!

तो कहने का तात्पर्य यह कि लालित्य की सटीक परिभाषा नहीं हो सकती। वैसे उसके परिचय में कुछ कहा-सुना, देखा-दिखाया जा सकता है और हद से हद समझने-बूझने के प्रस्थान-बिन्दु के तौर पर परिभाषा की ही शैली में एक व्यवहारिक सूत्र भी कहा जा सकता है कि **जिससे आस्वादन-सुख मिले वह ललित है; और लालित्यबोध माने आस्वादन-सुख या रसानुभूति।** अब आप कहेंगे कि क्या आस्वादन-सुख देने वाला दाल-भात भी सुन्दर या ललित है? तो मैं कहूँगा कि हाँ, यदि वह क्षुधा आपके अन्नमय प्राणमय कोषों को चीरती हुई मनोमय कोष को दखल कर चुकी हो तो! उस हालत में रोटी का गोल टुकड़ा पूर्णिमा के चन्द्र जैसा मनोहर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लगेगा। यदि आप उक्त सीमा तक तृषित हैं तो अंजुरी भर शीतल जल पान करते समय ऐसा लगेगा कि प्रेमिका के हृदय का अमृत ही आप पान कर रहे हैं और आपकी सारी सत्ता का रूपान्तर हो रहा है। वैसे मैं पहले ही कह चुका हूँ यह एक व्यवहारिक, कामचलाऊ बात भर है, कोई सही-सही परिभाषा नहीं। परन्तु है यह कुछ समझ में आने वाली बात कि 'लालित्यबोध' और कुछ नहीं, एक तरह से 'रसानुभूति' ही है। काव्य-साहित्य या ललितकला में 'लालित्य' और 'रस' समानार्थक नहीं तो, बाप-बेटे जैसे अवश्य हैं। दोनों के बीच कार्यकारण सम्बन्ध है। 'लालित्य' का बोध ही 'रस' की अनुभूति को जन्म देता है और इस अर्थ में सारा भारतीय 'रसशास्त्र' लालित्य-शास्त्र का ही एक अंग है। भगवती 'महारस' है, 'रसों का रस' है और वही ललिता है, त्रिपुरसुन्दरी है, लालित्य उसकी ही एक चिद्कला है। अतः 'लालित्य' और 'रस' में व्यवहारतः अभेद रहेगा ही क्योंकि जो 'ललित' है, वही 'सरस' है। अतः 'लालित्य'=रस और 'लालित्यबोध'=रसानुभूति, के कामचलाऊ समीकरण हमें लालित्य को पहचानने में काफी दूर तक सहायता देते हैं। हाँ मतभेद इस बात पर हो सकता है कि 'रस' एक व्यक्तिगत अनुभूति है। 'रस' की आस्वादन-सीमाएँ हमारे मन में है या बाहर। 'लालित्य' एक विश्वव्यापी कला है। परन्तु इसका 'बोध' तो मन के बाहर नहीं। आस्वादन तो 'रस'-रूप में मन के भीतर ही होता है। दुनिया भर के ललित-ललित के बीच निवास करते हुए, सुन्दर-सुन्दर के बीच ही हाटबाट में रातदिन चलते हुए भी इसके बोध से हम अपरिचित रह जाते हैं। परिचय तब होता है जब मन की 'इच्छाशक्ति' इससे जा जुड़ती है। अन्यथा 'जंगल में बेल पका है, बेल पका है, परन्तु पकने दो, इससे कौए बेचारे को क्या?' बेल बड़ा सरस है, परन्तु कौआ बेचारा उसके 'रस' से कैसे परिचित हो। हाँ, जब मन के अन्दर संस्कारबल हो और इच्छाशक्ति ललित से जा टकराये तो 'रस' का स्वाद अवश्य ही मिलेगा। कहने का तात्पर्य यह कि लालित्य का बोध तो हमारे आस्वादन पर निर्भर है। परन्तु हमारे आस्वादन पर लालित्य निर्भर नहीं। उसकी तो स्वतंत्र विश्वव्यापी सत्ता है।

'लालित्य' या 'सौन्दर्य' परमाप्रकृति की एक चिद्कला है। यह नित्य और विश्वव्यापी है। यह परमाप्रकृति 'विश्वसौन्दर्य' और विश्वोत्तर 'परमसौन्दर्य' दोनों का आधान है। यह 'महाछवि' है। यह 'महासौन्दर्य' है। यह विश्व 'दर्पण-दृश्यमान नगरी' की तरह है जिसमें उसकी ही छवि प्रतिबिम्बित होती है। जैसे एक शीशमहल में एक दीपक रख दिया जाय तो उसके हजार-हजार विम्ब शीशमहल की दीवारों पर झलक उठते हैं। जैसे कि 'मानस' की सीता अपने सखियों के बीच है। 'छविगन मध्य महाछवि जैसी!' शेष अन्य छवियाँ उस 'महाछवि' की सौन्दर्यकला का प्रतिबिम्बन पाकर ही छविमयी है। सृष्टि में जो कुछ सुन्दर मालूम होता है, जो कुछ ललित है, वह 'महाछवि' रूपा भगवती की चिद्कला का परावर्तित-प्रतिविम्बित रूप मात्र है। यह चिद्कला जिस फूल, जिस नारी, जिस दृश्य या जिस अनुभव-खण्ड पर पड़ती है उस 'क्षण' वह सुन्दर लगने लगता है। कब तक सुन्दर लगता है? जब तक वह 'क्षण' चालू रहे। वह क्षण कुछ मिनट से लेकर कुछ दिन-मास या वर्ष तक फैल सकता है। परन्तु कभी न कभी देश और काल के प्रवाह में यह क्षण समाप्त होता ही है। अतः यह लौकिक सौन्दर्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थायी नहीं। महज 'चार दिन की चाँदनी' है। सौन्दर्य का नित्य आधान तो 'परमाप्रकृति' रूपा भगवती शक्ति ही है। उसी में सौन्दर्य या लालित्य का कालातीत शाश्वत और सार्वभौम निवास है।

अब प्रश्न उठता है कि उस वस्तु, दृश्य, या अनुभव के भीतर ललित का बोध हमें कैसे होता है? तो इसका उत्तर इस प्रकार है। 'परमाप्रकृति' स्वयं विश्व चैतन्य और परम चैतन्य रूपा 'महाचिति' है। इस 'महाचिति' का प्रवाह सृष्टि में ओर से छोर तक व्याप्त है विश्व चैतन्य के रूप में और यही 'महाचिति' व्यक्तिसत्ता के भीतर सीमित नामरूप लेकर स्थित है 'चेतना' बनकर और इस सीमित रूप में उसका नाम 'चित्त' है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का एक प्रसिद्ध सूत्र है—''चितिरेव चेतना पदादवरूढ़ं चेत्य संकोचिनी चित्तम्'' (सूत्र 5)। अर्थात् 'महाचिति ही (विश्व)चेतना-पद से अवरूढ़ होकर (उतरकर) संकोचन क्रिया द्वारा (व्यक्ति) चित्त बन जाती है।' यह व्यक्तिचित्त अणुरूप है महाचिति के विभुरूप का। परन्तु यह रूप और सामर्थ्य की दृष्टि से सीमित चित्त है। इस चित्त कें भीतर इच्छाशक्ति का निवास है। या यों कहें तो ठीक होगा कि इच्छाशक्ति इस चित्तप्रवाह का ही एक विशिष्ट अंग है जब अपने भीतर की इच्छाशक्ति का ध्यान द्वारा, अभ्यास द्वारा या पूर्वजन्मलब्ध संस्कार द्वारा बाहर के किसी बाह्य रूप-प्रतिविम्ब का संयोग हो जाता है तो सम्पूर्ण चित्त का संयोग भी सीमा तोड़कर उस 'महाचिति' के विश्व-प्रवाह से संयुक्त हो जाता है। क्योंकि वह रूप-प्रतिविम्ब महाचिति की सौन्दर्यकला का ही प्रतिबिम्बन है। उस हालत में चित्त अपनी सीमाओं को भूलकर एक मुक्ति या इच्छा-तृप्ति का अनुभव करता है और यही अनुभव है लालित्यबोध का सुख या रसानुभूति का सुख। जब भीतर की ललित पोषित इच्छाशक्ति का तालमेल बाहर के महाचिति-प्रवाह से बैठ जाता है तो इस तालमेल का आलम्बन वह वस्तु, वह रूप या वह अनुभव स्वादिष्ट हो उठता है, सरस हो उठता है और यही है लालित्यबोध। क्योंकि ऐसे 'क्षण' के लब्ध होने पर 'रस-चिद' और आनन्दरूपा महाचिति दुर्निवार आकर्षण से, प्रबलवेग से चित्त को अपनी ओर खींचती है उस रूप प्रतिविम्ब के माध्यम से और उस 'क्षण' के लिए 'चित्त' और महाचिति के रूप प्रतिविम्ब से एक ऐसी 'युति' ऐसी एकात्मकता घटित होती है कि यह 'युति' स्वादिष्ट हो उठती है, मन और आत्मा इस अनुभव से आविष्ट हो जाते हैं और यह आविष्ट मनोदशा आनन्ददायक होती है। वैष्णवों ने महाचिति के इस स्वरूप को विष्णुमाया की 'ह्लादिनी' शक्ति कहा है क्योंकि यह चित्त को बड़े वेग से अपनी ओर खींचती है, अपने रूप प्रतिविम्ब से युक्त करके 'आह्लादन' देती है। इस युति का बोध ही लालित्यबोध है।

अब सवाल उठता है कि कभी-कभी हम गलत और अमांगलिक सौन्दर्य की ओर भी खिंच जाते हैं? ऐसा क्यों? वह इसलिए कि हमारा व्यक्तिचित्त तो अपने पूर्व संस्कार या पूर्व अभ्यास द्वारा (चाहे वे इस जन्म के हों या पूर्व जन्म के) एक विशेष आकृति-प्रकृति लिए हुए होता है। यह चित्त सद्, रज, तम तीनों गुणों वाला है। उसके संस्कारों के अनुसार वह चित्त शान्त या घोर या मूढ़ किसी भी प्रकार का,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी भी प्रकृति का हो सकता है और उसकी 'इच्छा'-शक्ति भी शान्त या घोर या मूढ़ तीनों में किसी प्रकार की हो सकती है। अतः चित्त अपने संस्कारों के अनुसार ही एक खास किस्म या 'टाइप' के सौन्दर्य की ओर या रूप-प्रतिविम्ब की ओर आकर्षित होता है। महाचिति का 'विश्वप्रवाह' तो स्वयं भी त्रिगुणात्मक है, शान्त, घोर और मूढ़ तीनों है। महाचिति 'विश्व-चैतन्य' के रूप में तीनों गुणों को धारण करती है। अवश्य ही परम चैतन्य के रूप में गुणातीत है। अतः प्रत्येक व्यक्तिचित्त की संस्कारलब्ध प्रकृति के अनुसार वह 'तुष्टि' की खुराक जुटा रही है। विषपायी को विष, अमृत के आराधक को अमृत। जैसा कर्म, वैसे संस्कार, वैसी प्रकृति और वैसा चित्त तथा उसी के अनुरूप आस्वादन। अपने कर्मलब्ध चित्त के संस्कारों के अनुरूप शान्त, उत्तेजक यानी घोर और मूढ़, जैसी भी इच्छाशक्ति होगी, वैसी ही कामना होगी और भगवती की चिद्कला वैसी ही खुराक जुटायेगी। क्योंकि वह न्याय-विवेक से पूर्ण ''वैरोचनी कर्म फलेषु जुष्टां'' शक्ति है, प्रत्येक को उसकी कर्म-साधना के फल का भोग कराने वाली शक्ति है। विषपायी को विष, अमृत के आराधक को अमृत। जैसा कर्म, वैसा स्वभाव, वैसा आस्वादन।

यहीं पर मनुष्य की 'वाणी स्वातंत्र्य' (freedom of choice) को, तपस की, शील की, संस्कार-साधना की भूमिका आती है। यदि सौन्दर्यबोध या लालित्यबोध के अमृत-स्वाद को पाना है, तो वैसी संस्कार-साधना करनी होगी। और यहीं पर उठता है कला साहित्य में 'शीलबोध' की भूमिका का प्रश्न। कला-साहित्य में हर प्रकार के सही-गलत आस्वादन या लालित्यबोध के लिए जगह नहीं। उसमें संस्कारी चित्त के संस्कारवान आस्वादन की ही अभिव्यक्ति होती है क्योंकि साहित्य-कला का एक सामाजिक दायित्व है। उसका उद्देश्य ही है मनुष्य के चित्त को 'सद्' और 'शान्त' की ओर प्रचोदित करना और उसकी 'घोर' तथा 'मूढ़' वृत्तियों की उच्छृंखलता का नियमन करना। इस सामाजिक दायित्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। 'घोर' और 'मूढ़' वृत्तियों के लिए जीवन में स्थान है सही, परन्तु किसी आदर्श के कारण नहीं बल्कि मानुषी देह की सीमाओं के कारण। इस सीमा के भीतर की अवशता के कारण। कला-साहित्य द्वारा इन 'घोर' और 'मूढ़' वृत्तियों का परिमार्जन होता है। अतः जीवन में घोर और मूढ़ चलता है, परन्तु साहित्य में इनका 'वर्जन' होना चाहिए।

दूसरी बात स्मरण रखने की यह है कि लालित्यबोध का सीधा-सपाट मतलब बाह्य सौन्दर्य या 'खूबसूरत-खूबसूरत' का बोध ही नहीं होता है। यह बोध करुण, भयानक, वीभत्स, उग्र या शान्त और सहज, किसी भी किस्म का हो सकता है। असल बात है चित्त का महाचिति के रूप-प्रतिविम्ब से, और इस प्रकार प्रकारान्तर से महाचिति के प्रवाह से जुड़ जाना और इस 'युति' या 'योग' का आस्वादन पाना। आलम्बन या माध्यम का रूप सामान्य चालू अर्थों में सुन्दर हो या असुन्दर, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। सारे रूप तो भगवती की ही छवियाँ हैं। इसी से लालित्यबोध की सीमा में करुण या 'ट्रैजिक' बोध भी आ जाता है, लौकिक जीवन में प्राप्त शृंगार-वीर से लेकर वीभत्स

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और शान्त सारे रस आ जाते हैं। अतः एक विस्तृत अर्थ में किसी भी कोटि का अनुभव जो हमारे 'चित्त' की इच्छाशक्ति को प्रबल रूप से खींच कर 'महाचिति' से युक्त कर दे, लालित्य का ही अनुभव है। क्योंकि उस अवस्था में भी चित्त को अपने मूल रूप से संयुक्त होने का स्वाद तो मिल ही जाता है। महाचिति यानी परमाप्रकृति तो 'शिव' भी है 'अशिव' भी है और इन दोनों से परे निर्गुणनिराकार 'शव' भी है। उसकी चिद्कला तो किसी भी आकृति में अपना प्रतिविम्बन कर सकती है।

अब हम 'लालित्य' से जुड़े आखिरी प्रश्न पर आते हैं कि साहित्य में इस लालित्यबोध या आस्वादन की कितनी कोटियाँ हैं। वैसे तो इसकी कोटियाँ असंख्य हैं और हो सकती हैं। मनुष्य के मन की विमिश्रता (Complexity) दिन पर दिन इतनी उलझती जा रही है कि आस्वादन की कोटियों का सामान्यीकरण संभव नहीं। तो भी चार प्रकार की मुख्य कोटियाँ ही प्रत्यक्ष होती हैं। (1) अवदमन की तृप्ति, (2) तृप्तकाम-अनुभव, (3) तनाव से मुक्ति, (4) चित्तगुण का विस्तार।

(1) प्रथम कोटि है अवदमन की तृप्ति। इसके मुख्य व्याख्याता हैं फ्रॉयड। पश्चिम की समस्त एशिया के शोषण पर आधारित इफ़रात और समृद्धि ने एक भोग-प्रधान 'नरक' की रचना की। अमेरिका के बारे में प्रचलित वैसे 'Hell of affluent Society' का मुहावरा तो बाद में उपजा परन्तु तथ्य रूप में यह 'नरक' बहुत पहले जन्म चुका था। इसी के सांस्कृतिक वातावरण में फ्रॉयड का दर्शन उपस्थित हुआ जो इसके काफी अनुकूल पड़ा। बहुत दूर तक उनकी आत्मिक स्थिति की व्याख्या इस दर्शन से हो जाती है और इसके व्यापक प्रभाव का कारण भी यही है। पश्चिमी साहित्य में अवदमन की तृप्ति की परम्परा 10वीं शती यानी 'रूमान' के प्रवेश के साथ जन्मती है। होमर के क्लासिकल साहित्य में यह नहीं है। वहाँ तो प्रेम या वासना का रूप ऐन्द्रिक तृप्ति ही रहा है। रूमान का प्रवेश मध्यकाल में ईसाइयत के प्रभाव से आता है। दान्ते और पेट्रार्क में जिस प्रेम की अभिव्यक्ति है वह कहीं न कहीं 'रमणतृषा' से जुड़ा है जिसके मूल में है 'काम-प्रलोभन'। जब अतृप्त 'काम-प्रलोभन' है तो निश्चय ही यह 'रमणतृषा' (लिबिडो Libido) को जन्म देगा। यदि आधुनिक प्रतिरूमानी (Anti-Romantic) साहित्य में काम-प्रलोभन या रूमान नहीं है, तो इसका दूसरा छोर 'बलात्कार' की महिमा है। दोनों स्थितियों में यह आत्मक्षयी आस्वादन है। इसका कारण है कि यह 'एकतरफा' है। चाहे Beatrice हो या Lauva हो या बाद रोमाण्टिक साहित्य की स्थितियाँ हों, यह सर्वदा ही 'काम प्रलोभन' से जन्मता है और एक अवदमन की सृष्टि करता है। साहित्य इस अवदमन की तुष्टि करता है। परन्तु इस कोटि के लालित्य का आस्वादन आन्तरिक व्यक्तित्व को कोई पूर्णता तो देता ही नहीं, यह ले-देकर एक मादक 'आत्मक्षय' का सुखमात्र है, एक तरह की सुखद यंत्रणा है।

(2) दूसरी कोटि में प्रेम या प्रणय के अन्दर प्राप्त एक 'तृप्तकाम' अनुभव जो एकतरफा नहीं होता, बल्कि एक पारस्परिकता होती है। इसमें आता है राधाकृष्ण का प्रेम या दुष्यन्त-शकुंतला का प्रेम। लौकिक स्तर पर यह परस्पर का भोग है, परस्पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को समर्पण है जिसमें एक दूसरे को परिपूर्ण करने की चेष्टा है और आध्यात्मिक स्तर पर यह चरम आनन्द का आस्वादन है। यह 'रमणतृषा' की तृप्ति नहीं बल्कि एक विश्वव्यापी 'भाव-स्मरता' की तृप्ति है। यह जीवन को स्वस्थ करती है, अन्तर के अविकसित को विकसित करती है, व्यक्तित्व का पूर्ण प्रस्फुटन कराती है, और यदि जमीन मानसिक स्तर से उठकर आत्मिक स्तर तक जाती है तो यह एक तरह की दिव्यानुभूति बन जाती है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण है वैष्णव काव्य। यह मन की वासना का तोषण नहीं। यह हमें 'रस' से 'चिद्' और 'चिद्' से आनन्द की ओर ठेलती है। विष्णु 'स्मर' रूप है। 'त्रैलोक्य मोहनाय विद्महे, स्मराय धीमहि तन्नोविष्णु प्रचोदयात्'। यह विष्णु गायत्री है। विष्णु के स्मर रूप हैं श्रीकृष्ण और उनकी 'स्मरता' को 'रस-चिद्-आनन्द' की त्रयी कहा गया है। इच्छाशक्ति के क्षेत्र में 'सद्' नहीं 'रस' होना चाहिए क्योंकि इसके संदर्भ में 'सद्' रस का ही रूप धारण करता है। इस 'रस-चिद्-आनन्द' की त्रयी या त्रिकूट के ऊपर जो कूटस्थ है वही है 'स्मर'। यह मात्र 'सेक्स' की अनुभूति नहीं। सेक्स इसके लिए बहुत छोटा शब्द है। 'गंगा नदी' के लिए 'नाला' या नाबदान शब्द नहीं चल सकता। एक दफे की बात है। आचार्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जब दुबारा जर्मनी जा रहे थे तो एक वैष्णवाचार्य ने उन्हें ब्रह्मसंहिता का एक श्लोक देकर कहा कि यदि फ्रॉयड से भेंट हो तो इसका अर्थ पूछिएगा। वह श्लोक इस प्रकार है—

आनन्द-चिन्मय-रसात्मकता मनःसू
य: प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरता उपेत्य
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रं
गोविन्द आदि पुरुषं तमहं भजामि।

अर्थात्, 'आनद-चिद् और रस' की 'आत्मा' (Essence) स्वरूप जो स्मरता है उसके आश्रय से समस्त प्राणियों के चित्त में जो अपने को प्रतिफलित करते हैं, जो सारे भुवनों को (काम के) अजस्र रूपों में लीलायित करते हैं करके विजित कर लेते हैं उन 'आदिपुरुष' गोविन्द को अर्थात् 'गो' (इन्द्रियों) के 'गोपाल' को हम नमस्कार करते हैं। अर्थात् 'स्मरता' ब्रह्म सत्ता का वह स्वरूप है जो जीवन के भीतर रसात्मक-चिन्मय-आनन्दमय प्रस्फुटन और पल्लवन के मूल में स्थित है। धरती की पंकिलता में छिपी एक दिव्य वानस्पतिक चेतना है जो पंक से फूल-पत्ती बनकर फूटती है, वह इसी स्मरता का स्वरूप है। यह विश्वव्यापी प्राजापत्य संवेदना है, प्रसवकामी संवेग है साथ ही विश्वव्यापी सुखतृषा है। मात्र कामुकता या यौनवृत्ति से यह कहीं बड़ी चीज है। कामुक आकर्षण तो इसके हजार-हजार रूपों में एक निचले देहस्तर की बात है। परन्तु इसकी यात्रा तो देह से मन, मन से आत्मा तक जाती है। यह मात्र व्यक्तिगत कामवेदना मात्र नहीं। परन्तु डॉ० फ्रॉयड भारतीय चिन्तन की पृष्ठभूमि से अपरिचित थे। अतः उनके लिए सब धान बाइस पंसेरी। उन्होंने 'स्मरता' को मात्र ऐन्द्रिक संवेदन मानकर पिटापिटाया जवाब दे दिया कि यह सारा वैष्णवबोध ही दमित वासना की काल्पनिक तुष्टि है और दिव्यता एक भावुक आरोपण मात्र है। जबकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लौकिक स्तर पर भी स्मरता में प्रीति, अनुकम्पा, पारस्परिक कोमलता आदि के सारे संवेदन आ जाते हैं, आह्लादन की सारी स्थितियाँ आ जाती हैं जिनमें यौनसुख की कोई भूमिका नहीं। यह तो विश्वव्यापी रागात्मिका वृत्ति है। जब लालित्यबोध इस स्मरता या रागात्मक वृत्ति से जुड़ा रहता है तो आस्वादन आत्मक्षय का मादक रस नहीं बनता है (जैसा कि 'अवदमन तृप्ति' के संदर्भ में घटित होता है) बल्कि वह आत्मा और मन की पुष्टि-तुष्टि का साधन बनता है। इसमें इच्छाशक्ति 'रस' से जुड़कर 'चिद्' की सीमा तक विचरण करने लगती है। यदि चित्त शान्त और सद् संस्कार से युक्त है तो 'चिद्' की भूमि से जुड़कर वह लोकोत्तर आनन्द देने लगती है, देहधर्म और मनधर्म दोनों से ऊपर उठकर। वैष्णव कविता में इसी 'स्मरता' की अभिव्यक्ति है। रवीन्द्रनाथ के प्रेमकाव्य में भी यही है। प्रारम्भ में रवीन्द्रनाथ को भी शेली, कीट्स से जोड़ कर लोग देखते थे। पर धीरे-धीरे समझ में आया कि यह तो खाँटी देशी उत्तराधिकार है और यह 'रस-चिद् और आनन्द' की त्रयी के मध्य भावानुप्रवेश है जिसका रूमानी प्रेम की वेदना से कोई नाता नहीं। यह एक ऐसी 'तृप्तकाम' मनोदशा है जिसके अगले कदम पर ही अनिर्वाच्य विश्राम की भूमि है। इसमें तड़पन नहीं, शान्ति और तल्लीनता है।

(3) लालित्यबोध की तीसरी मुख्य कोटि है तनाव (Tension) से मुक्ति। इसका ही एक रूप ग्रीक ट्रेजडी में 'Catharsis' (विरेचन) के रूप में मिलता है। दैनिक जीवन में जिन प्रतिकूल (Negative) भावों का तनाव होता है, उसका संत्रास मन को प्रेत की तरह अधिगृहीत किए रहता है, उसका विरेचन यदि साहित्य या संगीत आदि के माध्यम से करा दिया जाय तो मानसिक तनाव हल्का हो जाता है। क्रोध से उत्तेजित मन, गालीगलौज करने के बाद शान्ति पाता है। कुछ वैसे ही दैनिक जीवन में जिन भावों से हमें यन्त्रणा और तनाव भोगना पड़ता है उनकी साहित्य में अभिव्यक्ति पाकर हमें एक राहत या मुक्ति का अनुभव होता है। निराला और मुक्तिबोध की कविता का असर कुछ इसी प्रकार का है। ग्रीक ट्रेजडी या शेक्सपीयर में भय, करुणा या हताशा की अभिव्यक्ति से एक सुख मिलता है। वह इसी कोटि में आता है जिसकी व्याख्या अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में 'भाव' के अतिशय या अतिरिक्त दबाव के विरेचन द्वारा की है। दोस्तोव्स्की और अस्तित्ववादी उपन्यासों का रसबोध भी कुछ इसी प्रकार का है। परन्तु यह तो तनाव-मुक्ति की एक ना-धर्मी और अल्पकालीन स्थिति है। तनाव-मुक्ति का सिद्धान्त एक व्यापक परिवेश में भी काम करता है। और अन्त में यह 'शान्त रस' की उपलब्धि कराकर मन को 'विरजं-विशुद्धम्' करता है। यह मन का शान्त निर्वेद में प्रक्षालन है जिसका प्रभाव मन से भी आगे आत्मा तक जा सकता है जो पश्चिम की ट्रेजडी या आधुनिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है। सारा सन्त साहित्य कबीर की निर्गुण कविता इसी कोटि में आती है। यह एक विरागमयी शान्ति की ओर ले जाता है जिसमें अपनी निजी मादकता है। अनुभवी लोग बताते हैं कि 'राग' में जितनी विमत्तता है उससे कम विराग में नहीं। समस्या है विराग में मन का अभिनिवेश करने की। 'थेरगाथा' की कविता में प्रकृति का सौन्दर्य और मन की विरागमयी प्रमत्तता दोनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक साथ एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। यह एक मानसिक-मुक्ति का सुख है। ऐसा लालित्यबोध या रसबोध 'शील' का अंग बनकर जीवन का संशोधन एवं रूपान्तर तक कर सकता है। इसका सुख या आनन्द बहुत कुछ उसी प्रकार का है जैसा कि श्रामण्य या संन्यास का आनन्द। श्रामण्य या संन्यास द्वारा कौन सी उपलब्धि होती है, परलोक में नहीं, इसी जन्म में और इस जीवन में? एक दफे की बात है कि वैदेही पुत्र अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से यही प्रश्न किया था। बुद्ध ने जो उत्तर दिया था, वह तनाव-मुक्ति देने वाले लालित्यबोध या रसबोध के लिए भी युक्तिपूर्ण है। बुद्ध ने बताया था कि यह घोर अरण्य में भटकते हुए भयातुर पुरुष द्वारा एकाएक खुली जगह और सुरक्षित भूमि पर जाने के सुख जैसा है। हाहाकार करती हुई दावानल की ज्वालाओं से भागते हुए किसी महागज द्वारा एकाएक शान्त शीतल सरोवर पा जाने जैसा है। चारों ओर मूसलाधार वर्षा हो रही है, बिजलियाँ कड़क रही हैं, घटाटोप अंधकार है, ऐसे में बिना चूते हुए छत की नन्हीं सी सुरक्षित कुटी पा जाने जैसा है। तनाव-मुक्ति की कोटि वाला लालित्यबोध या रसास्वादन भी कुछ् इसी प्रकार का स्वाद देता है। यह मन को एक अविकल, धीर, प्रशान्त स्थिति में स्थापित करता है। 'महाभारत' सम्पूर्ण पाठ कर जाने पर कुछ इसी किस्म के रस का बोध होता है। भवति के नृशंस हाहाकार से गुजरते हुए अन्त में जाकर एक शान्त समाहित बोध की प्रतिष्ठा जिसमें विकल करने वाले प्रश्न अपने आप शान्त हो जाते हैं।

तनावमुक्ति की इन दो कोटियों के अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति भी है। वह है निसर्ग काव्य (Nature Poetry) में निसर्ग की शान्त और अहिंसक छवियों के मध्य गुजरते हुए एक 'शान्तं सहजं सुन्दरम्' बोध की उपलब्धि। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है अंग्रेजी कवि Wordsworth की कविता। आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी दिक्कत है कि वह ईश्वर-विहीन है और फ्रॉयड तथा डार्विन के कुप्रभाव से उसमें दिव्यता की अनुभूति सदैव शंका से विद्ध रहती है। आधुनिक शिक्षा और साहित्य की इस ना-धर्मी (निगेटिव) मानसिकता के मध्य हम जी रहे हैं और दूसरी ओर औद्योगिक संस्कृति की उत्तराधिकारिणी दक्षिण और वाम की राजनीति अनेक दुःस्वप्नों और संत्रासों की रचना नित्यप्रति करती चल रही है। फलतः इस स्थिति में आम आदमी के लिए जीवन बड़ा ही क्षमाहीन, शान्तिहीन और फुरसतहीन हो रहा है। वह उग्र उत्तेजनाओं की तनाव भरी जिन्दगी जीने को विवश है। ऐसे में वर्ड्सवर्थ की कविता की शान्त मनोभूमि में प्रवेश करना ऐसे लगता है गोया आधुनिकता के जंगल में खो गयी आत्मा की पुनर्प्राप्ति हो गयी हो। अतः तनावमुक्ति का यह तीसरा बड़ा ही सबल आश्रय है। रवीन्द्रनाथ के निसर्गकाव्य में भी यह गुण वर्तमान है। इसे पढ़ते ही लगता है कि हम आत्मा के नजदीक जा रहे हैं।

(4) आस्वादन सुख की एक चौथी कोटि भी है। वह है चित्तगुण का विस्तार। लालित्यबोध की इस कोटि को एक उदाहरण देकर समझाने की चेष्टा कर रहा हूँ। महात्मा गाँधी एक बार हयशाल राजाओं की कीर्ति बेलूड़ के प्रसिद्ध विष्णु-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मन्दिर को देखने गये। मन्दिर की दीवालों पर बाहर चारों ओर असंख्य भंगिमाओं में मूर्तियाँ लगी हैं। अलसकन्याएँ, अप्सराएँ, शालभंजिकाएँ, यक्ष-यक्षिणी आदि तरह-तरह के अभिप्रायों को लेकर गढ़ी गयी मूर्तियाँ। बापू के साथ गुजराती पत्रकार स्वर्गीय चन्द्रशंकर शुक्ल भी थे। शुक्लजी ने बापू पर अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक में बताया है कि वे घूमते-घामते एक मूर्ति के सामने अचानक आकर थम गये। स्तब्ध और आविष्ट जैसे। उनकी आँखें भर आयी थीं। यह महात्मा गाँधी के संदर्भ में एक अनहोनी बात थी। वे भावुक तो बहुत थे। परन्तु स्वभाव से बड़े धीर थे। वे प्रायः भावविचलित नहीं होते थे। कभी-कभी भावविकल होते भी थे तो जीवित मनुष्यों के दुःख-दैन्य को लेकर ही। निर्जीव मूर्ति को देखकर इस प्रकार उनका भाव-विकल हो जाना कुछ अजीब सा लगा। श्री चन्द्रशंकर शुक्ल जो उन दिनों बापू के व्यक्तिगत सचिव थे, पूछा, "बापू, क्या बात है?" वे कुछ बोल नहीं सके। अचानक एक मूर्ति की ओर उन्होंने उँगली दिखाई। शुक्लजी ने देखा वह एक नग्न नारी की मूर्ति थी जिसने अपना परिधान नीचे फेंक दिया था और भीत-भंगिमा में अपनी नग्नता और लज्जा के साथ खड़ी थी। बापू ने उसके परिधान में अंकित एक वृश्चिक की ओर इशारा किया। कलाकार ने त्यक्त अधोवस्त्र में साफ़-साफ़ छिपे हुए वृश्चिक की आकृति बना दी थी। बापू ने बताया, "देखो, यह 'काम-वृश्चिक' है इसी से भयभीत होकर इसने यह वस्त्र फेंक दिया है। यह नारी मनुष्य की आत्मा का प्रतीक है। हमारी जीवन-पद्धति ही वह परिधान है जिसे पहने हुए हम अपनी पहचान बना रहे हैं। उस परिधान में कामना का वृश्चिक छिपा हुआ है जो नित्य डंक मार कर हमें यंत्रणा दे रहा है। आत्मा तब तक विकल रहती है जब तक इस कामना-वृश्चिक से युक्त परिधान को हम खोल कर फेंक न दें। कलाकार की बोधदृष्टि बड़ी ऊँची है। हमारे जीवन की कितनी बड़ी ट्रेजडी की ओर यह इशारा कर रही है।"

इस किस्म का लालित्यबोध प्रथम श्रेणी की कृतियों में ही मिलता है। ऐसे बोध में किसी रूप, दृश्य, या शब्द के द्वारा हम ऐसे अनुभव के जगत् में प्रवेश कर जाते हैं जिसमें चित्त अपनी क्षुद्र अहंगत सीमा को तोड़ कर फैलने लगता है, मन के आयामों का विस्तार हो जाता है, और अचानक किसी अर्थ-गम्भीर या उदात्त सत्य की उपलब्धि हो जाती है जिससे मन और आत्मा एक दिव्य आलोक से प्रकाशित हो उठते हैं। हमारे हृदय में स्थित भावों की एक अव्यक्त विश्व-वीणा है। वह ऐसे लालित्यबोध के सामने अशब्द संगीत से झनझनाने लगती है और अवचेतन तथा अधिमानस के बीच एक सम्बन्धसूत्र जुड़ जाता है जिससे अनेक सुप्त उदात्त संस्कार जगकर चेतन धरातल पर उतर आते हैं। कभी-कभी कोई पंक्ति, अथवा उस पंक्ति का एक ही शब्द यह जादू कर जाता है। बोध इस कोटि का आनन्द जुटाता है।

हमने कहा था कि लालित्यबोध की अनेक-अनेक कोटियाँ हो सकती हैं। सबकी चर्चा असंभव है। परन्तु इन मुख्य चार कोटियों की चर्चा करके हमने लालित्यबोध की एक पहचान स्थापित की है। पूरा का पूरा हाथी क्या है, इसकी परिभाषा असंभव है। हाथी तो हाथी, घास की एक पत्ती का पूरा-पूरा सर्वांग परिचय दे डालना असंभव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। तो भी मस्तक, पाँव, सूँड़ और दन्त के बारे में, डीलडौल के बारे में कुछ बता देने पर एक 'आइडिया' हो ही जाती है। हमारा प्रयत्न कुछ इसी किस्म का है।

अब हम आते हैं अपने विषय के दूसरे खण्ड पर। 'ललित निबंध का लालित्य'। सच तो है कि यही हमारा विषय था। परन्तु हमने जानबूझकर अपना अधिकांश समय लालित्य के विवेचन में लगाया। क्योंकि 'ललित निबंध' का लालित्य कोई विशेष नाम-गोत्र वाला नहीं। कोई खास चीज नहीं, जो कथासाहित्य, काव्य, या मूर्तिकला-चित्रकला के लालित्य से भिन्न जाति का हो। जैसा लालित्यबोध और विधाओं में होता है वैसे ही इसमें भी है। क्योंकि लालित्यबोध तो रसानुभूति है, 'रस' का आस्वादन है और 'रस' प्रत्येक कला-विधा या साहित्य-विधा का 'Common Factor' सर्वनिष्ठ गुण है।

परन्तु यह बात सत्य होते हुए भी प्रत्येक विधा की आकृति या Form कुछ सीमाएँ, कुछ मजबूरियाँ प्रस्तुत करता है और उन सीमाओं के कारण लालित्यबोध के अनुपात में कमीबेशी हो जाती है। परन्तु उसकी प्रकृति वही रहती है। अब ललित-निबंध को ही लें। यह मूलत: निबंध है। निबंध के माने ही है बौद्धिक कर्म Intellectual Activity। इसका कारबार भावों को लेकर नहीं विचारों Ideas को लेकर चलता है। यद्यपि विचारों में भी एक अन्तर्निहित संगीत है—एक Music of Ideas है, और शुद्ध खालिस विचारों को भी लेकर कविताएँ लिखी गयी हैं। तो भी विचार अनुभूति नहीं देते बल्कि 'ज्ञान' देते हैं। अत: ललित निबंध भी निबंध की इस मूल प्रकृति को किसी भी हालत में त्याग नहीं सकता। परन्तु उसकी जाति कुछ भिन्न है। वह ज्ञान से एक छोर पर जुड़ा है तो दूसरे छोर पर उसी निष्ठा से लालित्यबोध से भी। इस दुहरी निष्ठा के कारण उसके लालित्यबोध की सीमाएँ बन जाती हैं। वह असीम और मुक्त नहीं रह पाता। इस तथ्य को हम ललित निबंध की विधा के स्वरूप की चर्चा के साथ-साथ उद्घाटित करने की चेष्टा करेंगे।

(1) राजशेखर ने कहा है—''वाङ्मय दो प्रकार का होता है शास्त्र और काव्य।'' 'ललित निबंध' एक ऐसी विधा है कि यह एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है। एक ही साथ, आगे-पीछे के क्रम में नहीं। महाकाव्य भी काव्य और शास्त्र दोनों है। परन्तु पहले वह काव्य है, इसके बाद शास्त्र। प्रत्येक महाकाव्य के हृदय में कोई न कोई शास्त्र अर्थात् दर्शन अवश्य रहता है। वैसे ही ललित निबंध भी शुद्ध मौज-शौक या मात्र आनन्द से जुड़ी विधा का नाम नहीं। इसमें एक व्यक्त या अव्यक्त जीवन-दृष्टि रहती है—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर एक Philosophy of Life देने की चेष्टा रहती है और पाठक के ज्ञान की परिधि का विस्तार करने की चेष्टा रहती है। यह मात्र गद्य-काव्य नहीं। यह बोध-दृष्टि से सम्पन्न विधा है जो जीवन के किसी पक्ष का विश्लेषण करती है। इसी से एक ही साथ, यानी अपने प्रत्येक बिन्दु पर, प्रत्येक मोड़ पर यह शास्त्र और काव्य दोनों है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(2) ललित निबंध एक 'स्वयं पूर्ण' और 'सम्पूर्ण' वाङ्मय है। इसमें व्यक्त दृष्टिकोण की युक्तियुक्तता इसी के अन्तर्गत निहित रहती है। यही उसकी सम्पूर्णता और स्वयं पूर्णता है। (Smile of Chimney Sweepers—C. Lamb)

(3) शैली और आकृति दोनों दृष्टियों से यह एक अत्यन्त 'मुक्त' विधा है—लेखक एक ही निबंध में विविध शैलियों में विचरण कर सकता है। परन्तु शर्त यही है कि वह शैली संदर्भगत सहजता के विपरीत न पड़े। ललित निबंध की आकृति निबंध, व्याख्यान (Sermon), फन्तासी, आत्मकथ्य (Monologue), 'फीचर', पोर्टेट (व्यक्ति-चित्रण), रिपोर्त्ताज''''आदि कुछ भी हो सकती है। मैंने अपने लेखन में इन सारी विधाओं का प्रयोग किया है।''''पत्र-विधा में भी मैंने कुछ ललित निबंधों को लिखा है। अतः शैली और विधागत आकृति दोनों दृष्टियों से यह सर्वथा ही मुक्त विधा है। मैं तो यह मानता हूँ कि ललित निबंध शिवजी का साँड़ है जो कहीं भी चर सकता है, परन्तु शर्त यही है कि विषय के खूँटे से बँधा रहे। इसी से मैंने इसकी एक परिभाषा बनायी है—'जो निबन्ध विषय के आसपास शिव की साँड़ की तरह छुट्टा यानी मुक्त रूप से चरण और संचरण-विचरण करे वह है ललित निबंध।' अवश्य ही इस परिभाषा में मेरे स्वभाव में निहित भोजपुरीपन आ गया है। परन्तु इसकी बनारसी भंगिमा के बावजूद यह बावन तोले पाव रत्ती सही परिभाषा है। 'शिव का साँड़' अर्थात् 'आनंदाख्य वृषभ' अर्थात् 'नन्दी', जो शिवप्रतिमा के सम्मुख तृप्तकाम आनन्द से मुदितचक्षु बैठा रहता है, आनन्दारूढ़ भंगिमा में। जो 'नन्दी' है वह 'नन्दनतत्व' से घनिष्ठ भाव से जुड़ा रहेगा ही। इस 'नन्दनतत्व' को ही आधुनिक भाषा में Aesthetics कहते हैं और 'लालित्यतत्व' इसी का अपर नाम है। बंगला में 'नन्दनतत्व' चलता है तो हिन्दी में 'लालित्यशास्त्र'। यानी यह छुट्टा औरों का खेत चरने वाला 'हरहा' बैल नहीं है बल्कि नन्दी है और इसके गले में किसी नियम-कानून का पगहा नहीं अतः 'विषय' के आस-पास ही स्वशासित अनुशासन से चरण और विचरण करता है। सामान्य अनुशासनों को अमान्य करता हुआ यह अपनी ही 'स्मृति' में, अपनी ही 'सत्ता' में, अपने ही 'भविष्य' में निर्द्वन्द्व विचरण करता है। अवश्य ही शुक्लजी जैसे गंभीर आचार्य इसे अपनी सभ्य-सुसंस्कृत शैली में कहते हैं, ''शास्त्रवृषभ की गद्य में की गयी आनन्द जुगाली का नाम है ललित-निबंध'' और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी अपनी सरल-सुबोध भंगिमा में इसकी साफ-साफ छात्रोपयोगी परिभाषा बना देते ''जो निबंध काव्य — भी आनन्द दे, वह है ललित निबंध।''

मैंने पहले ही कहा है कि ललित निबंध एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है। सच तो यह है कि अपने श्रेष्ठतम रूपों में काव्य और शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं सहयोगी हैं। बिना किसी अन्तर्निहित शास्त्र के काव्य एक रीढ़हीन केंचुआ जैसा लिजलिजा हो जाता है। यह शास्त्र-बल ही है जो काव्य की हड्डी और मेरुदण्ड रचता है, उसके अस्थि-पिंजर का निर्माण करता है। 'श्रेष्ठ' एवं 'असल' (प्रामाणिक genuine) काव्य के भीतर एड़ी से कपाल तक शास्त्र अन्तर्निहित रहता है। परन्तु शास्त्र-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भीतर ही। बाहर-बाहर जो दृश्यमान है वह मृदुल-मसृण कुसुम-कोमल शरीर है, खंजन-नयन है, सुमेरु या हिमालय जैसा दिव्य ललाट है और प्रांशु-शाल महाभुजाएँ हैं। परन्तु भीतर-भीतर 'वज्रसंहनन' काया रचता है शास्त्र ही। इसी तरह श्रेष्ठ शास्त्र भी भीतर-भीतर काव्य-रस से आर्द्र होता है और उसका चरम लक्ष्य भी काव्य का ही सगोत्र कोई 'भविष्य-स्वप्न' कोई यूटोपिया रहती है अथवा सत्य-शिव और सुन्दर मनुष्यत्व रहता है। यदि शास्त्र की आत्मा में काव्य प्रतिष्ठित न हो तो वह शुद्ध हृदयहीन 'पहाड़ा' या अंकों का 'धारापात' बन जाता है और उस पहाड़े की पोथी से कोई जीवन-दृष्टि हासिल नहीं हो सकती है। वैसा शास्त्र साधु और चोर, तपस्वी और कामुक दोनों के लिए सर्वदा 2×2=4 ही कहेगा। सद् और असद् का विवेक उसमें नहीं होगा। वस्तुत: शास्त्र भी दो तरह के होते हैं 'लक्ष्य'-प्रधान और 'माध्यम-प्रधान'। पहले 'साध्य' शास्त्र है दूसरे है 'साधन' शास्त्र। धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र आदि 'साध्य'-शास्त्र हैं जो हमारे जीवन का लक्ष्य निर्धारित करते हैं। परन्तु गणित, ज्यामिति है, यांत्रिकी, भौतिकी आदि 'साधन' शास्त्र हैं। राजनीति और अर्थशास्त्र भी अब मात्र 'साधन' शास्त्र नहीं रहे क्योंकि 'अर्थ' नामक पुरुषार्थ के लक्ष्य का विवेचन करते हैं। हमारे युग में तो वे धर्मशास्त्र के साथ-साथ उठते-बैठते हैं। लक्ष्यशास्त्र के सर्वोत्तम उदाहरण हैं गीता, कुरान, बाइबिल, धम्मपद और कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो। कम्युनिज्म भी अब एक ईश्वरविहीन 'चर्च' या 'धर्म' का रूप ले चुका है। धर्म जैसी अंधी निष्ठा और कट्टर दृष्टिधरता की अपेक्षा इसमें भी की जाती है। अत: 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' को भी अब गीता-कुरान की तरह एक तरह का धर्मशास्त्र ही मानना चाहिए। यदि इसका शैलीगत विश्लेषण किया जाय तो इसकी नस-नस में काव्य का नशा प्रवाहित मिलेगा। पढ़ते समय लगता है कि इसके भीतर काव्य सुलग रहा है, धुधुँआ रहा है और कभी-कभी गाँजे की चिलम जैसा भक से जल उठता है। प्रसिद्ध रोमन व्यंग्यकार (Satirist) जुवेनल (Guvenal) ने कहा है—"Poetry is born out of anger." (कविता का जन्म क्रोध से होता है।) यों राजशेखर की काव्यमीमांसा में गिनाये गये विविध रसपाकों की सूची में इसका स्थान 'सहकार-पाक' की कोटि में न आकर 'नीम-पाक' की कोटि में ही आयेगा। परन्तु आज की शताब्दी की रुचि को तो सब कुछ रुचिकर है। आखिर नीम का भी तो एक स्वाद है ही। आज से नहीं सदैव से। षटरस में कटु और तिक्त भी रस ही कहे गये हैं। तीते करैले के व्यंजन कम स्वादिष्ट थोड़े होते हैं। कोई जरूरी नहीं कि काव्य-साहित्य में सर्वदा सबकुछ मीठा-मीठा ही हो, बंगाली रसगुल्ले जैसा, आदि से अन्त तक 'गपागव्व' रसमय। और जबकि युवा हुरिहारों की हुंकार में और पास-पड़ोस की महाभागा देवियों के परस्पर 'चण्डीपाठ' में भी गद्य की भाषा लयमुक्त होकर काव्य का रूप ले लेती है तो फिर यह 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' तो मनुष्य जाति के सुखद स्वप्न की एक रोमाण्टिक 'यूटोपिया' (Utopia) पर खड़ा है। भला उसे काव्य का दरजा क्यों नहीं प्राप्त होगा? वैष्णवता और ईसाइयत की तरह कम्युनिज्म भी मनुष्य मन की एक सुन्दर कविता है। कम से कम अपने मूल रूप में तो है ही।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(4) दुर्भाग्यवश ललित निबंध की एक संज्ञा 'व्यक्तिपरक निबंध' भी है। Personal Essay। यह बात बिल्कुल सही है कि इसमें लेखक के व्यक्तित्व की, उसकी प्रकृति की केन्द्रीय भूमिका है। परन्तु यह बात बहुत सी भ्रान्तियों की सृष्टि करती है। लोग समझते हैं कि यह एक वस्तुनिष्ठ रम्य रचना न होकर लेखक की आत्मकथा का एक टुकड़ा है। और, तब वे प्रत्येक संदर्भ में लेखक का यथार्थ जीवन ढूँढ़ने की फूहड़ चेष्टा करते हैं। परन्तु पटवारी के नकशे में गाँव को देखकर गाँव के स्वरूप की कल्पना नहीं हो सकती। हमारा दिन-प्रतिदिन का भोगा हुआ तुच्छ जीवन साहित्य में आता भी है तो इतना अधिक परिवर्तित होकर कि वह हमारा नहीं रह जाता। साहित्य का 'मैं' सर्वदा समूहवाचक होता है। वह तो शाश्वत 'मैं' है। वस्तुतः व्यक्तिपरक या 'व्यक्तिव्यंजक' शब्द का सम्बन्ध 'तथ्य' से नहीं 'भंगिमा' से है। व्यक्तिपरक निबंधों में लेखक का दैनिक जीवन (उसका दैनिक काम-क्रोध) कच्चा माल है। वह नहीं बल्कि उससे तैयार 'व्यक्तित्व' व्यक्त होता है और वह भी तथ्य (Content) में नहीं, शैली (Style) में। अतः लेखक के जिये जीवन की खोज उसके ललित निबंधों में एक अत्यन्त सीमित अर्थ में ही होनी चाहिए। जिये जीवन के 'अनुभव-लोक' के ऊपर है 'क़ामलोक' यानी इच्छाओं की मधुमती भूमि। और उसके ऊपर भी स्थित़ है 'रूपलोक' यानी लालित्यबोध का जगत्। कामलोक तक तो मन की दमित वासनाओं की गंध जा सकती है, परन्तु उसके ऊपर नहीं। 'कामलोक' तक जिये जीवन का रिश्ता चलता है परन्तु रूपलोक में वर्तमान को अतिक्रान्त करके जीवन के शाश्वत प्रवाहों के संस्कारों का संचरण है। जन्मान्तर प्रवाह की वासनाएँ रूपलोक में विचरण करती हैं जिन्हें वर्तमान में जिये जीवन की आँखों से पहचानना कठिन है। सारा साहित्य ही 'रूपलोक' का संवाद है, 'कामलोक' का नहीं। ललित निबंध तो उतना ही निर्वैयक्तिक साहित्य है जितना कि गीतकाव्य। इसके भीतर भी जो माल परोसा जाता है, वह भी रूपलोक के कारखाने में तैयार होता है। अतः इसके अध्ययन-निरूपण में व्यक्तिगत जीवन की विलोम-अनुलोम इच्छाओं और क्रियाओं को बहुत महत्व देना समीचीन नहीं।

वस्तुतः लेखक तो ईश्वर का 'गुप्तचर' है। वह अपने को एक 'मुखौटे' में छिपाकर चलता है। ललित निबंध में अभिव्यक्त होकर उसका 'व्यक्तित्व' नहीं बल्कि 'प्रतिव्यक्तित्व' (Counterself) ही आता है जो अपनी बात कहने के लिए एक माध्यम भर है।

(5) ललित निबंध लालित्यबोध या रसबोध पर आश्रित होता है और लालित्य-बोध की सारी कोटियाँ ही इसमें स्थान पा सकती हैं। मैंने कहा है कि यह बड़ी ही 'मुक्त' विधा है। इसमें किसी भी प्रकार के लालित्यबोध की कोटि के लिए निषेध नहीं। हमने जिन चार प्रकार के लालित्यबोध की कोटियों की चर्चा की है वे सभी आ सकती हैं। राजशेखर की शब्दावली का प्रयोग करते हुए कह सकते हैं कि इसमें आम्रपाक से लेकर करैलापाक और नीमपाक तक सब कुछ चल सकता है। 'रम्य'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात् 'रमणीय' सदैव सुखद या मधुर के अर्थ में ही गृहीत नहीं होता। कोई भी अनुभव जो प्रगाढ़ और गहन-गंभीर हो, जो उदात्त हो, जो चित को विस्तृत करके 'स्व' की कोटर से हमें मुक्त कर दे, या कम से कम चित को चमत्कृत कर दे, वह सब 'रम्य' या 'रमणीय' कहे जाने का अधिकारी है। ललित निबंध गद्य में प्रस्तुत एक 'रम्य रचना' है। कुछ भाषाओं में इसे 'रम्य रचना' कहा भी जाता है। 'व्यक्तिपरक' और 'व्यक्तिव्यंजक' उपाधियाँ ललित निबंध की सीमित संज्ञाएँ ही रचती हैं इसकी पूरी सकूनत का बयान ये दे नहीं पातीं। 'सांस्कृतिक निबंध' या 'रचनात्मक निबंध' (Creative Essay) इसकी अपेक्षाकृत स्पष्टतर संज्ञाएँ हैं। परन्तु ये भी सर्वथा पूर्ण नहीं। अत: ले-देकर 'रम्य निबंध' 'ललित निबंध' ही अधिक अभिव्यक्तिपूर्ण संज्ञाएँ लगती हैं।

(6) उन्नीसवीं शती तक 'ललित निबंध' क्या 'निबंध' के ही बारे में एक भ्रान्त धारणा चालू थी कि इसे विषय के किसी एक पक्ष या कोण तक ही सीमित रहना चाहिए और 'सम्पूर्ण' के विवेचन की चेष्टा इसमें एक कलात्मक विसंगति होगी। आज इस बात से कोई सहमत नहीं। मैं तो और भी नहीं। 'ललित' इसकी उपाधि मात्र है। है यह भी निबंध ही। अत: इसका भी मूल उद्देश्य है पाठक के बौद्धिक क्षितिज का विस्तार उसकी चेतना के बौद्धिक आयामों का विस्तार। ऐसी अवस्था में विषय की सम्पूर्ण प्रस्तुति एक दोष कैसे मानी जायगी? हाँ यह शर्त अवश्य है कि यह प्रस्तुति उसमें एक अस्वाभाविक विस्तार न पैदा करे और अन्तिम प्रभाव की एकता को 'Unity of Impression' को खण्डित न करे। 'सम्पूर्ण प्रस्तुति' का अर्थ सारा ब्यौरा या सारे आँकड़े नहीं होते। रामकथा पर 24000 श्लोकों का एक महाकाव्य लिखा गया है। परन्तु उसकी भी 'सम्पूर्ण प्रस्तुति' महज चार पंक्तियों के श्लोक "आदौ राम तपोवनादि गमनं......." से भी हो जाती है। 'सम्पूर्णता' की कोई साइज या आकृति निश्चित नहीं की जा सकती। यह ललित निबंधकार की मर्जी पर है कि वह अपने को विषय के एक पक्ष या कोण तक सीमित रखेगा कि सम्पूर्ण को प्रस्तुत करेगा। इसके लिए कोई लक्ष्मणरेखा नहीं। शर्त यही है कि लालित्य की रक्षा हो और अन्तिम प्रभावान्विति न बिखरने पाये। बच्चा नौजवान की साइज में लम्बा नहीं हो सकता। परन्तु चाहे बच्चा हो या नौजवान, अपने हाथ से दोनों साढ़े तीन हाथ के ही होते हैं। जैसे कहानी और उपन्यास का भेद दिखाया जाता है कि कहानी जीवन का एक 'टुकड़ा' व्यक्त करती है तो उपन्यास जीवन का 'सम्पूर्ण', वैसी कोई बात ललित निबंध के बारे में नहीं कही जा सकती। ललित निबंध एक विधा या भंगिमा है जिसके सम्मोहन के सहारे लेखक और पाठक के बीच एक तादात्म्य या बन्धुत्व स्थापित किया जाता है और इस तादात्म्य को स्थापित कर लेने के बाद विषय का सम्पूर्ण विवेचन दोष नहीं माना जा सकता। हाँ 'टेबुलटाक' (Table Talk) की भंगिमा बनी रहनी चाहिए।

अन्त में 'विषय' से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण पक्ष के सम्बन्ध में। आज हम एक 'अभिरुचि के संकट' (Crisis of Taste) से गुजर रहे हैं। मनुष्य की कल्पना-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शक्ति तथा भाव-बोध की क्षमता अपने मानवीय केन्द्र से च्युत हो चुकी है और दिन-पर-दिन हमारा खान-पान, दूध-दही, रहन-सहन और आचार-व्यवहार हीनतर और अस्वस्थ होते जा रहे हैं। अभिरुचि का जो संकट महायुद्ध के पूर्व पश्चिम में था, वह धीरे-धीरे तीसरी दुनिया के देशों में भी प्रवेश कर रहा है। अतः हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिए आज आवश्यक है कि हमारी कल्पना-शक्ति और भाव-प्रवणता हमारे बढ़ते औद्योगिक-साइंटिफिक विकास के गद्यात्मक तथा मशीनी दबाव के कारण कुंठित, बौनी और केन्द्र-च्युत न हो। इसके लिए आवश्यक है कि वैज्ञानिक संस्कृति और वाङ्मय के 'भाव' रूप का अनुसंधान और आहरण। 'भाव' रूप से हमारा क्या तात्पर्य है, हम इस पर संकेत कर रहे हैं। जैन दार्शनिकों ने कहा है जब हम 'कर्म' को 'भाव' रूप में देखते हैं तो उसकी प्रभावान्विति का रूप पाशविक और यांत्रिक न रह कर 'सात्विक' हो जाता है और वह 'स्थूल कर्म' ही एक 'भाव' बन जाता है। मनुष्य खाद्य-पदार्थ खाता है, पर देवता 'भाव' का भक्षण करते हैं। अतः देवताओं का भोजन 'भाव-भोग' होता है। इसी तरह प्रत्येक कर्म का ही एक 'भाव' रूप है। अतः अपने चिन्तन और साहित्य में ऐसे 'मुहावरों' और 'अभिव्यक्तियों' का अनुसंधान करना होगा जो मशीनी दबाव और मनुष्य-निरपेक्ष ममताहीन गद्यात्मकता को 'भाव' में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करे। वैसे यह काम एकतरफा साहित्यकार की ही ओर से होना असंभव है। आज के उद्योग और विज्ञान के कर्म 'मनुष्य' से नहीं उत्पादन से यानी अर्थशास्त्र से जुड़े हैं। एक ओर तो इस औद्योगिक-वैज्ञानिक सभ्यता को 'मनुष्यत्व' से जुड़ना होगा। दूसरी तरफ से साहित्यकार को इस सभ्यता के भीतर कर्म का 'भाव-रूप' आविष्कृत करना होगा।

इस प्रकार आधुनिक औद्योगिक-वैज्ञानिक संस्कृति और साहित्यकार की रचनात्मक कल्पना के बीच एक 'सहज' तालमेल बैठाया जा सकेगा और दोनों के बीच परिचय का छन्द स्थापित होगा। आज दोनों के बीच अजनबीपन और असहजता का ही सम्बन्ध है। आज 'महानगरीय कविता' के नाम पर जो औद्योगिक वैज्ञानिक संस्कृति की अभिव्यक्ति हो रही है वह ना-धर्मी है और वह उस संस्कृति को एक विषकन्या रूप में ही प्रतिष्ठित करती है। दोनों के बीच जो सम्बन्ध है वह व्यंग्य और तिरस्कार का ही रूप ले सकता है, कोई लालित्यबोध नहीं दे सकता।

आधुनिक मशीनी सभ्यता के भावरूपों के आहरण में 'ललित निबंध' की विधा सर्वाधिक सहायक हो सकती है। मैंने स्वयं अपने ललित निबंधों को भाषाविज्ञान, ज्योतिष और नृतत्वशास्त्र के सीमान्तों तक फैलाया है। कुशल हाथों में पड़कर विज्ञान की सीमा तक इसकी यात्रा करायी जा सकती है। यह 'ललित' होते हुए भी 'गद्य' है और 'निबंध' है। अतः इस आधुनिक संस्कृति से भावात्मक तालमेल बैठाने में यह साहित्य की किसी भी अन्य विधा कविता या कहानी-उपन्यास की अपेक्षा अधिक समर्थ है क्योंकि यह एक ही साथ 'शास्त्र' और 'काव्य' दोनों है। नीरस शास्त्र और सरस काव्य के परस्पर विरोधी छोरों से एक ही साथ जुड़े रहने के कारण यह अभिरुचि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के वर्तमान संकट में एक मौलिक परन्तु अत्यावश्यक भूमिका निभा सकता है। आधुनिक युग की एकमात्र स्वीकृत विधा 'पत्रकारिता' (Journalism) से लेकर कविता की रहस्यवादी भूमि तक संचरण करने की क्षमता के कारण एकमात्र इसी विधा में वह सामर्थ्य है कि इस रुचिबोध के संकट में एक महत्वपूर्ण भूमिका ले सके। साहित्यिक विधाओं में सर्वाधिक 'सर्वगुणग्राही' होने के कारण इसकी अन्तर्निहित संभावनाएँ अपार हैं। आधुनिक औद्योगिक वैज्ञानिक संस्कृति एक अत्यन्त उलझी हुई विमिश्र संस्कृति है। इसकी विमिश्रता और उलझनों में रहते हुए रचनाकार अपनी 'Unity of Being' (अर्थात् अस्तित्व की अखण्डता और एकात्मकता) का बोध जितनी सहजता से इस विधा के माध्यम से बचाकर जीवित रख सकता है, उतनी सहजता से अन्य किसी विधा के माध्यम से संभव नहीं है।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय इतिहास की अप्सरा-नाभि

'अभिज्ञान शाकुंतल' पढ़ने के बाद कुछ बातें मन में अपने आप उदित होती हैं। प्रथम तो यह कि भारतीय सौन्दर्यबोध प्रकृति के सहज और सुन्दर परिवेश से ही जुड़ा चलता है और उसका ही प्रतीक है शकुंतला। यह बिम्ब भारतीय आरण्य-लक्ष्मी और निसर्गश्री की सारी शोभा, सारी सरसता और धैर्य एवं तपस्या को धारण किए हुए है। इसमें तप और तितिक्षा है परन्तु अवदमन या गलित आत्मक्षयी आसक्ति के लिए कोई स्थान नहीं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय इतिहास की विकास-धारा में एक इच्छा-शक्ति या काम-शक्ति निरन्तर सक्रिय है, जो हमारी जातीय आकृति और प्रकृति को दल-प्रतिदल प्रस्फुटित करती हुई हमें एक स्वतंत्र चरित्र देती है, जिसकी संज्ञा 'नव्य आर्य' या 'भारतीय आर्य' है। इस नव्य आर्य की आकृति महाकाव्य-संस्कृति से प्रारम्भ होकर तिलक-गाँधी-रवीन्द्रनाथ तक अविच्छिन्न रूप में विद्यमान है और यह आकृति अपने अन्तर्राष्ट्रीय 'नार्डिक' रूप से जो तेजस्वी के साथ-साथ घोर खूँखार भी है, सर्वथा भिन्न है। कालिदास के दो नाटक—'अभिज्ञान शाकुंतल' और 'विक्रमोर्वशीयम्' इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक संकेत देते हैं जिसे पण्डितों ने आर्य-आर्येतर महासमन्वय कहा है। आर्य-आर्येतर नस्लों का यह सामाजिक और सांस्कृतिक समन्वय ही वैदिकोत्तर युग की भारतीयता की जन्मभूमि है। भारतीय-संस्कृति के प्राक्इतिहास का नाभिपद्म रचती है हिमालय के अन्दर बसने वाली किरात, निषाद विमिश्र संस्कृति, जिसका पौराणिक परिचय यक्ष, गंधर्व और अप्सरा सभी साथ-साथ जुड़े हैं और सम्भवत: यह स्वयं में एक विमिश्र नस्ल है जो आर्यों के (जिनके पौराणिक प्रारूप हैं मानव और देवगण) मधुर सम्पर्क में आ चुकी थी। विशेषत: महाभारतीय आर्य शाखा के चन्द्रवंशियों की तो प्रसवयोनि ही रचती है अप्सरा-संस्कृति। कालिदास के उपर्युक्त दोनों नाटक, जिनकी नायिकाएँ शकुंतला और उर्वशी हैं, इसी ऐतिहासिक संकेत को बड़ी मोहक शैली में प्रस्तुत करते हैं। इनमें उर्वशी तो स्वयं ही अप्सरा है और शकुंतला है अप्सरा-कन्या।

पुराणों से लेकर लोक-कथाओं तक के आरोपित संस्कारों के कारण अप्सरा शब्द हमारे सहज कामुक चित्त में एक मोह-वीणा की तरह बजने लगता है और काम प्रलोभन का एक वातावरण हमारे मन में रच देता है। लोकसाहित्य में आजकल ज्यादातर अप्सरा की ईरानी बहन 'परी' ही आती है। परियाँ सद्-असद्, अच्छी-बुरी दोनों किस्म की होती हैं। तो भी उनकी महिमा दिव्य-लोक-विहारिणी अप्सरा से नीचे है। साथ ही लट छितराये, बिखरे बाल वाली डायन (डाकिनी) तथा सिर पर बड़ा भारी जूड़ा बाँधे 'चुड़ैल' (जूड़ाधारिणी) की तुलना में वे ऊपर की जीव मानी जाती हैं। ले-देकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परी अपदेवता ही है और वह कल्पना ही कल्पना है जबकि अप्सरा अर्ध दैवी जाति है, अपदेवता नहीं। साथ ही यह यक्ष, किन्नर, गंधर्व की तरह भारतीय इतिहास की एक विस्मृत कड़ी है, शतप्रतिशत कल्पना नहीं है। यह अप्सरा एक ऐतिहासिक वास्तविकता का अतिशय अलंकृत रूप है और इतना अधिक इसे अलंकृत कर दिया गया है कि इसकी मानवीयता पहचानी ही नहीं जाती। तथ्य तो यह है कि अप्सराएँ भारतीय इतिहास की कल्पित नहीं जीवंत मातृकाएँ हैं। मेरा तात्पर्य अप्सरा-शक्तियों और अप्सरा-पीठ की उन मानवी प्रतिनिधियों से है जो इतिहास के आदिम काल में जीवित नारियाँ थीं और आदिम आर्य को उत्तरकुरु तथा हिमालय के पुष्पाच्छादित अंचलों में मिली थीं। भारतीय साहित्य में अप्सरा का वर्णन कुछ इस तरह से हुआ है कि वह जब कभी सम्मुख आती है तो अपने दिव्य रूप और काम-प्रलोभन को ही लेकर आती है। अप्सरा उतरी मानो भगवती ऊषा ही मंद पग उतरी और जल-थल पर, हृदय पर, जहाँ भी उसके चरण पड़े वहाँ-वहाँ अरुण वर्ण जलजात खिल उठे। अप्सरा उतरी मानो दूध-धवल चाँदनी में स्नान करा गयी। अप्सरा उतरी मानो दसों दिशाओं में विह्वल-विकल बाँसुरी बज उठी। काम-भाव की सारी मनःस्थितियों से जुड़ी है यह अप्सरा। इसके नाम में ही इसकी प्रकृति का संकेत मिलता है। अप से 'सरित', यानी संचरण करती हुई, निकलती हुई, किसी जलचर हंस की तरह या जल से निकली हुई, उत्पन्न हुई जलजात कमल की तरह। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ० सुकुमार सेन ने इसका अर्थ किया है, जलधारा की भाँति सरकती या प्रवाहित होती हुई। वेदों में 'सृ' धातु का अर्थ तैरना या संचरण करना नहीं था। उस समय 'सृ' धातु का अर्थ होता था, प्रवाहित होना और यह अर्थ पकड़ने पर 'अप्सरा' का अर्थ नदी या जलधारा ही होता है। (डॉ० सुकुमार सेन, 'अमृत', दुर्गा-पूजा, 1983 के विशेषांक में) चाहे जो अर्थ लें, परन्तु सारे अर्थों में यह नदी-जल से जुड़ी सत्ता है। नदी और अप्सरा की प्रकृति में साम्य भी है। नदी अर्थात् जलवती, रसवती, सोमवती। नदी किसी ग्राम, देश या कूल से बँध कर नहीं रहती। वह जन-जन की तृषा बुझाती है। वह किसी रसोईघर की बटलोई या चारुपात्र में कैद करके नहीं रखी जा सकती। नदी राजा के स्वर्ण कलश और गरीब के मृत्तिका घट दोनों को भरती है। बस, पास पहुँच जाना चाहिए और किनारे से उतर कर अवगाहन करने का साहस हो जाना चाहिए। नदी की कोई जात-पाँत नहीं। अतः यदि कोई ललित निबंधकार या कवि नदी की ओर तृषित लोचनों से देखते हुए कह बैठे, नदी! तुम अप्सरा हो, तो वह काव्य नहीं, तथ्य का गद्य ही बोल रहा है, क्योंकि अप्सरा में नदी के ये सारे गुण विद्यमान हैं। नदी पार्वती की बहन है तो अप्सरा सागर-संभवा लक्ष्मी और अमृत की सहोदरा है। तो भी नदी और अप्सरा में कुछ भेद है अवश्य। नदी अपने सारे-सारे मुक्त विचरण के बावजूद दोनों तनों या कूलों के बीच अनुशासित रहती है क्योंकि है तो वह महासती पार्वती की ही बहन। परन्तु अप्सरा चंचला लक्ष्मी की सहोदरा होने के कारण 'अकूल' और 'अकुल' रहती है। वह किसी मर्यादा के नियमों से बँधी नहीं चलती। वह मनुष्यलोक की नहीं दिव्यलोक की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निवासिनी है। इसकी सहोदरा लक्ष्मी को पट में तथा इसके भाई अमृत को घट में बाँधकर वही रख सकता है जो देवता हो या देव प्रकृति का हो। लक्ष्मी और अमृत को पट और घट में बाँध कर रखना आसान नहीं। यदि वह लाठी के जोर से ऐसा करता है तो अमृत वारुणी बन जायेगा और लक्ष्मी खूँखार कालिका। इसीलिए अप्सरा, लक्ष्मी और अमृत देवलोक की सत्ताएँ हैं। अवश्य ही अप्सरा बार-बार इस मर्त्यलोक में लोभी-लालची मनुष्यों और उग्रतेज तापसों के बीच उतरती है और उनकी अंत:प्रकृति के अनुसार भूमिका लेती है। परन्तु धरती उसे बाँध कर रख नहीं पाती। वह अपनी भूमिका निभा कर पुन: लौट जाती है, गंधर्वलोक को जो देवलोक का ही कत्थक टोला है। परन्तु यह सब पुराणों की कवि-कल्पनाएँ हैं। आधुनिक विद्वान् कुछ और ही कहते हैं। उनका कहना है कि ये मिथकीय दिव्य नारियाँ वस्तुत: आर्येतर कुल कन्याएँ या वृन्द कन्याएँ हैं जो 'थान' के देवता का प्रतीक और उसकी मुख्य पुत्रसारिणी भी होती थी। पुराणों की भाषा में मानव और देवता का अर्थ आर्य-मानव ही है। शेष आर्येतर मानवों के मिथकीय प्रारूप हैं—यक्ष, असुर, नाग, किन्नर, गंधर्व आदि। ये मानवी 'कुल-कन्याएँ' अपने प्रेमी आर्य पुरुषों को भावातिरेक के कारण मनोमयी दिव्य सत्ताएँ लगी होंगी। यदि यह सत्य है तो पुरुरवा की उर्वशी और दुष्यन्त की शकुंतला भारतीय संस्कृति की आर्येतर 'योनि' अर्थात् मातृकुल की प्रतीक हैं। द्वापरकालीन भारत की सांस्कृतिक योनि तो आर्येतर ही है। आधुनिक भारतीय संस्कृति उस महाभारतीय संस्कृति या महाभारतीय द्वापरकालीन संस्कृति की ही सीधे-सीधे उत्तराधिकारिणी है।

वैसे तो माना जाता है कि गंधर्वगणों की नारियाँ ही अप्सरा होती हैं। ये गंधर्वगण दैवी शक्ति से सम्पन्न होते थे। इसके मुख्य देवता थे कंदर्प या काम। 'काम' शब्द तो 'कं' के ही आकार युक्त रूप 'कां' का विकसित रूप लगता है। 'गं' और 'कं' दोनों शब्दों का अर्थ होता है 'जलधारा' और वस्तुत: दोनों एक ही किरात, निषाद 'ध्वनिग्राम' के विवर्तन हैं तथा अप्सरा का अर्थ भी ले सकते हैं। अथर्ववेद में गंधर्व को 'गां वाणी धारयति' कह कर परिभाषित किया गया है। 'गां' का अर्थ यहाँ 'वाक्' लाया जाता है। 'गां' का अर्थ नदी और 'वाक्' दोनों होता है, 'सरस्वती' की तरह। वस्तुत: नदी के सारे वैदिक पर्याय 'वाक्' यानी 'सरस्वती' के पर्याय हैं। गंधर्व अप्सराओं को धारण करते हैं अर्थात् साथ रखते हैं तथा सरस्वती के 'संगीत' रूप को भी। वस्तुत: सरस्वती भी मूल रूप में लक्ष्मी और गंगा-यमुना की तरह आदि लोक-धर्म की 'अप्सरा' ही रही होगी। सरस्वती का वाहन हंस, लक्ष्मी का आसन कमल, गंगा का वाहन मकर और यमुना का कच्छप, ये सभी के सभी या तो जलचर हैं अथवा जलजात। ये सभी 'अप' तत्व से जुड़े हैं। ये सबकी सब आदिम लोकधर्म की (चाहे आर्य लोकधर्म हो या आर्येतर लोकधर्म) अप्सरा ही रही होंगी। बाद में पौराणिक चिन्ता के विकास के साथ-साथ इनका उन्नयन हुआ होगा। एक समय रहा होगा जबकि नदी और जलाशयों की देवियों के रूप में ये अप्सराएँ लोकधर्म में प्रतिष्ठित रही होंगी। प्रत्येक अप्सरा-पीठ या 'थान' पर उसकी मानवी प्रतिनिधि रहती होगी उस थान की मुख्य पुजारिणी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'कन्या' जिन्हें 'कुलकन्या' कहते थे और हमारे आदिम नायकों की प्रेमिकाएँ ये उन दिव्य भावसत्ताओं के मानवी प्रारूप ही रही होंगी। यही कारण है कि एक ही उर्वशी या एक ही रम्भा सतयुग, त्रेता, द्वापर तीनों युगों में मौजूद लगती है।

भारतीय इतिहास के प्रागैतिहासिक कालखण्ड में उपस्थित जातियाँ, देवता, असुर, यक्ष और किन्नर-गंधर्व-अप्सरा को हम क्रमशः इतिहास के आर्य, द्रविड़, निषाद और किरात का मनोमय रूप या अनुस्मृति बिम्ब मान सकते हैं। अवश्य ही किन्नर, गंधर्व, अप्सरा सम्भवतः विशुद्ध किरात न होकर विमिश्र आर्य-किरात, या निषाद-किरात (किन्नर, किम्पुरुष) भी हो सकते हैं। आर्य-द्रविड़ संस्कृतियाँ तो भारतभूमि में शुरू से ही विभिन्न रूपों में मौजूद हैं। आर्यों के सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र की शची ही असुर कन्या है। भारत में आर्य-द्रविड़ संघर्ष से पूर्व ही एक संघर्ष और घटित हो चुका था। इन दोनों नस्लों में सीरआमू की घाटी में वंक्षु की उपत्यका में और वर्तमान खारेज्म प्रदेश में (राहुल, मध्यएशिया का इतिहास) भारतीय-आर्य भारत में प्रवेश के पूर्व ही बदलने की प्रक्रिया में आ गया था। पुराणों में वर्णित देवता और असुर इसी विमिश्र आर्य-द्रविड़ उत्तराधिकार की अनुस्मृतियाँ हैं। विशेषतः प्रथम सत्र के महापितरों की कथाएँ। ये अनुस्मृतियाँ उन दिनों की हैं जब वे भारतीय नदी उपत्यका से सर्वथा अपरिचित थे और उनका इतिहास-भूगोल बहिर्भारतीय था। हिमालय का स्थान हमारे प्रागैतिहास और इतिहास दोनों का ही बड़ा अनोखा क्रीड़ा-भूमि रहा है। किरात (किन्नर-गन्धर्व), निषाद (यक्ष) के साथ-साथ उत्तरकुरु के तुषार-ऋचीक आर्यों का भी। वैदिक संस्कृति के जन्म के पूर्व से ही आर्य-आर्येतर अन्तर्मिश्रण एवं अन्तर्मंथन, रजवीर्य तथा मन-बुद्धि दोनों क्षेत्रों में चालू हो गया था। ऋचीक अर्थात् ऋषीक आर्यगण कुश्तन से कश्मीर होते हुए हिमालय के भारतीय उत्तराखण्ड में (हिमाचल प्रदेश तथा कूर्मांचल), आते-जाते थे। उत्तरकुरु का भूगोल स्थायी नहीं बल्कि गतिशील रहा है और कुश्तन (खोतान), चीनी, तुर्किस्तान, तुषारस्थान से लेकर कश्मीर, जम्मू एवं कश्मीर, हिमाचल भी इसमें आते हैं। ब्रदरीवन का एक 'ऋषीकेश' नाम इन्हीं 'ऋषीक' आर्यों के कारण है जिनके देवता थे ध्यानी नारायण द्वय। बाद में इतिहास की इस कड़ी का विस्मरण होने की वजह से ही ऋषीकेश नारायण की जाँघ से उर्वशी का जन्म हुआ। यह मिथ बड़ी संकेतपूर्ण है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि उर्वशी उस आर्य जनजाति या प्रजाति की कन्या है, जिसे इतिहास में ऋषीक आर्य कहा जाता है जो तुषारिस्तान और खोतान (कुश्तन) प्रदेश तथा उत्तरकुरु का निवासी था वस्तुतः खोतान प्रदेश उत्तरकुरु की सीमा रचता है। ऋषीक देवता नारायण के थान के साथ-साथ यह भी हो सकता है कि किसी लोकदेवता उर्वशी का भी 'थान' रहा हो और जीवित उर्वशी (या एक निश्चित अवधि के लिए नियुक्त होने वाली अनेक उर्वशियाँ) उस देवी शक्ति की मानवी प्रतिनिधि और पुरोहित रही हों, उसका आर्य नाक-नक्शा होने की वजह से वह अन्य अप्सराओं से सुन्दरतर मानी गयी हो। गंधर्वगण कोई आर्य-किरात विमिश्र हिमालयवासी जनजाति (ट्राईब) हो सकते हैं, जिनसे यह नृत्य-गीत प्रधान अप्सरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृति जुड़ी है। किन्नर और किम्पुरुष—ये दोनों तो निश्चय ही किरात हैं। किन्नर और किम्पुरुष दोनों एक ही शब्द हैं। जिसके अर्थ से अपरिचय की ध्वनि (क्या यह नर है) निकलती है। सम्भवतः किरात वेशभूषा देखकर आर्यों के मन में यह शंका उठी हो और वह शंका एक संज्ञा बन गयी हो, परन्तु गंधर्वगण या तो उत्तरकुरु की शुद्ध आर्य जनजाति है अथवा आर्य, आर्य-किरात मिश्रित नस्ल के हैं। 'गांधार' शब्द में 'गंधर्ववार' का संकेत मिलता है और गांधार का अर्थ या तो गन्धर्वभूमि है अथवा गन्धर्वों से मिलती-जुलती किसी जाति का देश है जो 'गां' अर्थात् 'गान' या वाणी को धारण करती है। वस्तुतः आर्यों का शास्त्रीय धर्म यज्ञ द्वारा देवोपासना था परन्तु संसार की अन्य जातियों की तरह आर्यों का भी एक उपधर्म या लोकधर्म रहा होगा, जिसमें इतर विश्वास और रहस्यवाद के लिए प्रचुर स्थान रहा होगा। मेरी समझ से देवोपासना आर्यों का शास्त्रीय धर्म है तो गंधर्वोपासना और गंधर्व अप्सरा शक्ति में विश्वास उनके लोकधर्म का अंग था। शास्त्रीय धर्म या अभिजात धर्म तो कर्मकाण्ड से कसा हुआ शुद्ध और कुलीन रहता है। परन्तु लोकधर्म एक बहती गंगा है और उसमें प्रतिवेशी अनार्य के विश्वास और आचार भी सम्मिलित होते रहे होंगे।

गंधर्वभूमि वर्तमान गांधार तक ही सीमित न होकर समस्त उत्तरकुरु तथा हिमाचल तक फैली थी। इसी भूमि में ऋषीक आर्यों का भी निवास हो गया था। इसी ऋषीक आर्य के लोकधर्म की किसी उर्वशी (जो ऊषा-शक्ति की प्रतिरूप थी तथा मित्र या सूर्य से जुड़ी थी) लोकदेवता का स्थान बदरीवन में था और जीवित उर्वशी इसी स्थान या पीठ की 'कुलकन्या' होगी। बदरीवन का दूसरा नाम है देविका-वन और तंत्रग्रंथों के अनुसार इसकी अधिष्ठात्री है उर्वशी। यह उर्वशी 'देवी' है जैसे ऊषा, रात्रि और श्री देवियाँ हैं, यह बल्कि उससे कुछ इतर लोकायत धर्म की देविका (लघु देवी) है। इसी उर्वशी पीठ की किसी 'कुलकन्या' या 'वृन्दकन्या' से जो गन्धर्वों के संरक्षण में थी फँसा था ऐलपुरुरवा। इससे जन्म हुआ 'आयु' का। 'आयु' के ही वंश में उत्पन्न हुआ था दुष्यन्त जो किसी अप्सरा से नहीं बल्कि अप्सरा की बेटी शकुंतला से प्रणयबद्ध हो गया और इस प्रकार उत्पन्न हुआ कुरु-कुल का पूर्वज राजर्षि भरत। प्रसिद्ध युधिष्ठिर, भीमार्जुन आदि वीर इसी के वंशज थे और उन्हें महाभारत में भारत विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। यही नहीं इस वंश के आदिपुरुष इल की कथा में भी कुछ ऐसे ही विमिश्रण का संकेत है। राजा इल हिमालय भूमि में मृगया करने गया। यहाँ एक ऐसे बन में जा फँसा जहाँ रास्ता ही भटक गया। वह जा पहुँचा चन्द्रमा पूजक जन जातियों (निषाद या यक्ष) के किसी भगवती पीठ पर जहाँ परपुरुष का अनुप्रवेश वर्जित था। इल को वहाँ की पुजारिणी कुल कन्याओं ने नारी वेश में बाँधकर रखा और कुछ दिन बाद इल को भी वहीं मौज मिलने लगी। फिर तो वह छः मास नारीवेश में वहाँ पर रहता था और छः मास पुरुषवेश में आर्यावर्त में राजा बन कर रहता था। इसी प्रदेश में उसे सम्भवतः किसी कुलकन्या से एक सन्तान हुई पुरुरवा, जिसे घोषित रूप में कहा गया कि यह नारी वेशधारी राजा इल की सन्तान है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसका पिता मानुषेतर दैवी पुरुष है चन्द्रपुत्र बुध। इस प्रकार ऐल पुरुरवा चन्द्रवंश की प्रथम सन्तान हुआ। वस्तुतः चन्द्र शक्ति को भगवती के रूप में पूजने वाली जनजातियों की किसी पीठाश्रित कन्या तथा आर्य पुरुष की सन्तान था पुरुरवा। परन्तु आर्यों में चन्द्र था पुंलिंग देवता, अतः इल को ही इला घोषित करके उपर्युक्त मिथ की रचना हो गयी।

द्वापर युग विष्णु के सोम रूप का अवतरण काल है। यह विष्णु का स्मर रूप है। इस युग में इच्छाशक्ति या कामशक्ति जिसका बीज मंत्र है 'क्लीं', पूरे इतिहास में महासमन्वय की प्रेरक शक्ति के रूप में सक्रिय थी। बार-बार आर्येतर संस्कृति प्रेमिका का मोहक बाना धारण कर आती है और पुरुष आर्य को अपने गर्म-गर्म प्रेमपाश में बाँधती है। फल होता है रजवीर्य के मिश्रण के साथ-साथ मन और संस्कारों का मिश्रण। इसी मिश्रण की महागाथा रचते हैं पुराण और महाभारत। महाभारत हमारे प्राग-इतिहास और 'इतिहास' के बीच की कड़ी है। इसी मध्यान्तर कालखण्ड में हमारे इतिहास का यथार्थ प्रस्तवित हुआ है। त्रेता संस्कृति हमारा आदर्श है तो द्वापर संस्कृति हमारा यथार्थ, ऐसा भारत के विद्वान् समवेत कण्ठ से स्वीकारते हैं।

मनुष्यों और अप्सराओं की इन प्रेम-कथाओं में भारत के समूह-मन में निरन्तर लीला करती हुई इच्छाशक्ति या 'क्लीं' का ही खेल व्यक्त हो रहा है। यह इच्छाशक्ति ही भारतीय जाति के महासमन्वय के मूल में है। कालिदास सही अर्थ में राष्ट्रीय कवि इसलिए भी हैं कि इस महासमन्वय के दो केन्द्रीय आख्यानों को उन्होंने अपने नाटकों का विषय बनाया है। उनके ये दोनों नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'शाकुंतल' भारतीयता के जन्म-रहस्य का उद्घाटन करते हैं। इन नाटकों का विषय ही है भारतीयता की प्रसव-कथा।

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्मृतिशेष

कुबेरनाथ रायजी के ललित निबन्धों का संग्रह 'किरात नदी में चन्द्रमधु' हमारे द्वारा सन्. 1983 ई. में प्रकाशित किया गया। उस समय कुबेरनाथजी आसाम के सुदूर कोने नलबारी कॉलेज में अंग्रेजी का अध्यापन करते थे। उनके निबन्धों में आसाम की प्रकृति का लालित्य ध्वनित होता था। किरात संस्कृति का उनके चिन्तन पर गहरा प्रभाव था।

इन्हीं दिनों कुबेरनाथजी ने अपने घर (जिला गाजीपुर) के निकट आने की इच्छा व्यक्त की ताकि वे अपने घर-परिवार की देखरेख भी कर सकें। दूसरे, आसाम नलबारी की जलवायु उन्हें सध नहीं रही थी।

तभी उत्तरप्रदेश उच्चशिक्षा आयोग का विज्ञापन गाजीपुर के स्वामी सहजानन्द कॉलेज के प्रिन्सिपल पद के लिए निकला। उस विज्ञापन की कतरन उन्हें भेज दी, किन्तु उनका कोई उत्तर नहीं आया। लगभग छः मास पश्चात् एक दिन अचानक कुबेरनाथजी पधारे और बताया कि वे इलाहाबाद से गाजीपुर के लिए प्रिन्सिपल हेतु इण्टरव्यू देकर आ रहे हैं। मैंने उनसे पूछा—इण्टरव्यू कैसा रहा? वे बोले—कैसा क्या, मुझसे पूछा गया आपको प्रशासनिक अनुभव है। मैंने उत्तर दिया—मैं केवल पढ़ाता हूँ और लिखता हूँ, मैंने किसी प्रशासनिक पद पर कार्य नहीं किया है। इण्टरव्यूकर्ता निराश हुए तभी चयन-समिति के दो सदस्यों ने कहा—मैं इन्हें जानता हूँ, मैंने इनके निबन्ध पढ़े हैं। आपके लेखन में विद्वता और लालित्य है।

निबन्धों पर चर्चा के साथ इण्टरव्यू समाप्त हुआ और बिना किसी आशा के लौट आये। और फिर एक दिन आये और बोले—"स्वामी सहजानन्द कॉलेज के प्रिन्सिपल पद पर मेरी नियुक्ति हो गयी है, कॉलेज ज्वाइन कर लिया है।"

गाजीपुर आने के बाद जब भी काशी आते थे मेरे यहाँ अवश्य आते थे, दो-तीन घण्टे बैठते थे, कॉलेज के प्राचार्य-पद से प्रसन्न नहीं थे, उनका लिखना-पढ़ना भी छूट गया था। नये-नये अनुभव हो रहे थे। तभी उन्होंने अपने निबन्ध संग्रह 'कामधेनु' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखा—जबसे मैंने अपनी नयी नौकरी अर्थात् एक महाविद्यालय का प्राचार्य-पद सँभाला है, मेरे सीमित ज्ञान का दायरा ऐसे बढ़ता जा रहा है कि बढ़ते-बढ़ते यह 'जहन्नुम' की सीमा छूने लगा है। देश, काल और यथार्थ के बारे में नयी-नयी जानकारी मिल रही है। उदाहरण के लिए अभी तक मैं किताब को बाप-दादों की शब्दावली में 'सरस्वती' या 'विद्या' मानता था, अथवा मिल्टन की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तरह किसी महामेधावी के हृदयरक्त और धैर्य से उत्पन्न एक 'सजीव' सत्ता जैसी अथवा इसी तरह की कुछ बहुत ऊँचे दर्जे की चीज़ मानता था। परन्तु अब मुझे पता चला है कि किताब भी ईंट या सीमेन्ट की तरह 'माल' है और इसकी खरीद के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और संपरीक्षण अधिकारी (ऑडीटर) वे ही नियम-कानून लागू करते हैं जो जूते खरीदने के लिए लागू होते हैं यानी दस दुकान देखो और जहाँ सस्ता मिले वहीं से जूता लो। उसी तरह किताब की खरीद के लिए दस नहीं तो तीन दुकानों का 'कोटेशन' लगाना जरूरी है। साथ ही यह भी कि माल खरीदने के सारे कानूनों का पालन करते हुए फरवरी में मिली 'ग्राण्ट' का 31 मार्च से पहले उपयोग कर डालो। चाहे जो खरीदो, बस, 'छपे हुए कागज का नाम किताब है'—-इस परिभाषा से ही चल जायेगा। यानी किंताब और जूता में कोई फर्क तात्त्विक दृष्टि से नहीं है। अर्थशास्त्र तो आदमी को एक 'इकाई' तथा किताब को 'माल' से ज्यादा मानने का हुक्म नहीं देता और यह अर्थशास्त्र का युग है।

सन् 1988 में लिखा 'उत्तरकुरु' संग्रह 1994 में प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में लिखा—'उत्तरकुरु' सम्भवतः अपने ललित-निबन्धों का अन्तिम से पूर्व वाला संग्रह है। इसके बाद एक और ललित निबन्ध-संग्रह, बस। अब आगे नहीं। इसके बाद इस क्षेत्र की महाविद्या को शयन-आरती।

इसके बाद उनका संग्रह आया 'मराल'। इस पर उन्हें मूर्तिदेवी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

4 मई 1994 को भारतीय ज्ञानपीठ की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन सभागार में डॉ. श्यामाचरण दुबे की अध्यक्षता में एक विचारगोष्ठी आयोजित हुई, उस गोष्ठी में कुबेरनाथजी ने भारतीय वाङ्मय के सन्दर्भ 'आर्ष चिन्तनपद्धति' पर अपना आलेख पढ़ा था। लौटते समय उक्त आलेख का हस्तलेख मुझे दे गये। यह लेख कलकत्ता की 'बात' पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

प्रचार-प्रसार से दूर अंतर्मुखी प्रवृत्ति-प्रधान कुबेरनाथजी सुदूर असम के एक नगर में रहकर मौन साहित्य-साधना करते रहे।

अत्यन्त सादगीपूर्ण जीवन, भौतिक आकर्षणों से दूर उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि यह व्यक्ति अंग्रेजी साहित्य का विद्वान् अध्येता-अध्यापक और हिन्दी का अग्रणी निबंधकार है। अपने बारे में उन्होंने कहा था—मेरे जीवन में कुछ भी ऐसा उग्र, उत्तेजक, रोमांटिक, अद्‌भुत या विशिष्ट नहीं जो कहने लायक हो। पूर्वी उत्तरप्रदेश के एक अर्ध-अभावग्रस्त सवर्ण किसान परिवार के शिक्षित और उत्तरदायित्व-चेतना-सम्पन्न युवक की जो नियति होती है जैसा जीवन होता है, वैसा ही हमारा जीवन भी है। वे कहते थे—"मैंने क्या लिखा, मेरे अंतर के अंतर्यामी पुरुष ने लिखवाया। अन्यथा इस भोजपुरी देहाती से वह थोड़े ही लिखा जाता।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते रहे, उनके निबंध सांस्कृतिक गवेषणा और लालित्य-चेतना के अद्भुत संगम हैं। उनके निबंधों को पढ़ते हुए बोध होता है जैसे सभ्यता की खोज यात्रा पर निकले हों। धीरे-धीरे वे अधिक दार्शनिक और गूढ़ होते जा रहे थे।

और सहसा अप्रत्याशित रूप से 5 जून 1996 को प्रकृति में विलीन हो गये। आज उनकी 'वाणी का क्षीरसागर' ही उनकी स्मृतिशेष है।

—पुरुषोत्तमदास मोदी

❖

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुबेरनाथ राय

जन्म : १९३५ मत्सा (गाजीपुर, उत्तर प्रदेश)
निधन : ५ जून १९९६
शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय।

प्रकाशित रचनाएँ : १. प्रिया नीलकण्ठी, २. रस आखेटक, ३. गन्धमादन, ४. निषाद बाँसुरी, ५. विषाद योग (आधुनिक चिन्तन), ६. पर्ण मुकुट, ७. महाकवि की तर्जनी (रामकथा और वाल्मीकि समस्या के सन्दर्भ में), ८. मणि पुतुल के नाम (गांधीवादी रस-दृष्टि और शिल्प-दृष्टि पर), ९. किरात नदी में चन्द्रमधु, १०. मनपवन की नौका (बृहत्तर भारत के सांस्कृतिक सन्दर्भ), ११. दृष्टि अभिसार, १२. त्रेता का बृहत्साम और १३. कामधेनु (मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित)

उपलब्धियाँ : 'प्रिया नीलकण्ठी' पर उत्तर प्रदेश शासन की हिन्दी समिति का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार एवं 'गन्धमादन' और 'विषाद योग' पर विशेष पुरस्कार। 'पर्णमुकुट' पर उत्तर प्रदेश शासन के हिन्दी संस्थान द्वारा 'स्तरित पुरस्कार'। 'महाकवि की तर्जनी' पर 'मानस संगम' कानपुर द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र- प्रशस्ति एवं साहित्य पुरस्कार। इसी कृति पर साहित्य अनुसन्धान परिषद (हनुमान टेम्पुल ट्रस्ट) कलकत्ता द्वारा राम-साहित्य पुरस्कार। पुनः इसी कृति पर उत्तर प्रदेश शासन के 'हिन्दी संस्थान' द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र-प्रशस्ति एवं आचार्य शुक्ल पुरस्कार। 'त्रेता का बृहत्साम' भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता द्वारा सम्मानित।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.